प्रकाशक :—
प्रेम साहित्य जैन भंडार
जालन्धर ।

मुद्रक—
श्री राजकुमार जैन
राज रत्न प्रैस,
प्रताप रोड,
जालन्धर शहर ।

"श्री वीतरागाय नम"

भूमिका

यह सर्व विदित है कि मानव की सुसस्कृति और सभ्यता के विकास मे धर्म का अनन्त २ काल से महत्त्व पूर्ण स्थान माना गया है। आज मानव जाति मे हमे जो कुछ भी श्रेय रूप नज़र आ रहा है वह एक धर्म का ही सुन्दर प्रतिबिम्ब है। धर्म ने ही मनुष्य के जीवन को उच्च से उच्चतर बनाया है। धर्म क्या है ? धर्म है मनुष्य के हृदय से उठी हुई एक सर्वोच्च पवित्र मनोभावना। जितने भी जीवनोत्थान करने वाले सद्गुण है उन सब का मूल श्रोत धर्म ही है। सत्य, अहिसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यह धर्म रूपी सुन्दर भवन के पाँच मूल स्तम्भ हैं। भारत वर्ष मे जितने भी आस्तिक दर्शन है, उन सभी ने इन पाँच महान् व्रतो को अवश्य माना है।

अहिसा ही एक ऐसी सर्वप्रिय वस्तु है, जिसके पालन करने से ससार मे स्थाई शान्ति स्थापित की जा सकती है। आज जब कि चारो ओर से हिसा राक्षसी का नग्न ताण्डव नृत्य हो रहा है और यह सर्वभक्षी सर्वतोमुखी बन के मानव का भक्षण करती जा रही है, और इसे जन सहार की ओर धकेल रही है, राष्ट्र २ का, जाति जाति का, भाई २ का, पिता पुत्र का दुश्मन बना हुआ है। कलेश, द्वेप का दावानल चारो ओर धदक रहा है। ऐसे विकट समय मे अहिसा भगवती का अधिकाधिक पालन करना ही मानव के लिए परम आवश्यक है।

इस पुनीत भारत भूमि के सपूत अनेक ऋषि, महर्षि, सत, महात्मा अहिंसा भगवती का प्रचार और प्रसार करते आए हैं। सच पूछा जाए तो वात यह है कि अहिंसा जन कल्याण कारिणी अनन्त २ काल से जो सजीवित रूप से प्राणवती हो कर जन कल्याण कर रही है, यह श्रेय साधु सतो के अहिंसा मय प्रचार और प्रसार को ही है। आज भी इस गए गुजरे विषाक्त जमाने मे वहुत सारे साधु सत अहिंसा की पवित्र ध्वजा को लहरा रहे हैं और जन-कल्याण कर रहे हैं। उन्ही सन्तो मे से जैन भूषण, पजाव केसरी श्री प्रेमचन्द जी महाराज भी एक हैं। जिन्होने फ्रटियर प्रान्त, रावलपिंडी से लेकर पजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान (मारवाड, मेवाड आदि), मालवा, सौराष्ट्र गुजरात, काठियावाड, महाराष्ट्र आदि दूर दूरान्तर प्रदेशो मे पैदल विहार कर अनेक दुस्सह कष्टो को सहन कर अहिंसा भगवती जन कल्याण कारणी का अधिक से अधिक प्रचार और प्रसार किया है। हिंसक प्राणियो को हिंसा का परित्याग करवा कर हजारो नही वल्कि लाखो मूक प्राणियो को अभय और जीवित दान दिया है। वे मूक प्राणी आज भी अपनी मूक भाषा मे आपके गुण गान कर रहे हैं।

महाराज श्री जी ने पूर्वोक्त प्रान्तो में घूम २ कर जो प्रवचन जनहित के लिये दिये उन मे से कुछ एक प्रवचन लेखवद्ध किए गए हैं। जिनको 'प्रेमसुधा' नाम से बारह विभागो मे पहले प्रकाशित किया जा चुका है। जिस को जनता ने खूब ही सादर भाव से अपनाया है। अब यह प्रेमसुधा नामक तेरहवां भाग भी प्रकाशित होकर आप सज्जनो के कर कमलों मे आ रहा है। इस मे क्या २ और कहां २ किन २ विषयो का विवेचन किया गया है यह तो पाठक

गणो को इसकी अनुक्रमणिका पढने पर ही ठीक रूप से ज्ञात हो सकेगा। किन्तु यहाँ पर इतना ही कहना प्रयाप्त होगा कि इसमे मुख्य रूप से दर्शन विशुद्धि, मिथ्यात्व का निराकरण, आत्मा परमात्मा का सुन्दर समन्वय और है आत्म परमात्य दर्शन। प्रत्येक विषय को सूक्ष्म से सूक्ष्म अथवा कठिन से कठिन होने पर भी अनेक हेतु, उदाहरण दे कर सरल से सरल बनाने का प्रयत्न किया गया है। आशा है कि जिस प्रेम और धर्म उत्साह के द्वारा जनता मे पूर्व प्रकाशित 'प्रेम सुधा' के बारह भागो को अपना कर आत्म-बोध और आत्म-कल्याण किया है, उसी प्रकार आप लोग इसे भी अपना कर आत्म-कल्याण के भागी बनेंगे।

इस 'प्रेम सुधा' तेरहवें भाग का प्रकाशन २०१७ के आप श्री के भटिडा चर्तुमास की स्मृति रूप एस. एस जैन सभा भटिडा की ओर से किया गया है।

अत भटिंडा एस एस जैन सभा का बहुत २ धन्यावाद किया जाता है, जिन्होने इस प्रचार के लिए अपनी धनराशि खर्च कर आपने द्रव्य का सदुपयोग किया है।

मिती अषाढ शुक्ला १३, स० २०१७ वि०

आपका सुखाभिलाषी,
तुच्छ सेवक,
मोहन लाल जैन
बी० ए०, बी यड
भटिडा

शीर्षकों का हार

———

भाव-अरिहन्त की उपासना

अरिहन्त अरिहन्त० ।

धर्म बन्धुओ और धर्म बहिनो !

अरिहन्त भगवान् की स्तुति की गई है। जिस महान् आत्मा ने समस्त दोषो को दूर करके आध्यात्मिक सम्पत्ति प्राप्त कर ली हो, जो सम्पूर्ण ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य को प्राप्त कर चुका हो, जिसमे चौंतीस अतिशय एव पैंतीस वचन के गुण विद्यमान हो और जो शरीर मे स्थित होकर भी मुक्तदशा का अनुभव करता हो, वह अरिहन्त कहलाता है। कहा है —

यो दर्शनज्ञानसुखस्वभाव ,
समस्तससारविकारबाह्य ।
समाधिगम्य परमात्मसज्ञ ,
स देवदेवो हृदये ममास्नाम् ॥

अर्थात्—जो अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख रूप है, जो ससार सम्बन्धी समस्त विकारो से अतीत हो चुका है, जिस का स्वरूप ध्यान के द्वारा ही जाना जा सकता है और जो परमात्मा के पद को प्राप्त कर चुका है, वही देवो का देव मेरे हृदय मे निरन्तर निवास करे।

किसी भी पद का अर्थ स्पष्ट और निश्चित रूप से समझने के लिए तथा वक्ता के अभिप्राय को सही रूप से समझने के लिए

जैन शास्त्रो मे निक्षेपविधि का उपयोग किया जाता है। यह विधि जैनशास्त्रो की एक असाधारण देन है। इसके द्वारा वक्ता के दृष्टि-कोण को बिल्कुल सही रूप मे समझा जा सकता है।

निक्षेप विधि के अनुसार प्रत्येक शब्द के कम से कम चार अर्थ सभावित हो सकते हैं और वे हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप। इस विधि के अनुसार अरिहन्त शब्द से भी चार प्रकार के अरिहन्तो का बोध होता है —

नाम-अरिहन्त—किसी ने अपने लडके का नाम अरिहन्त रख लिया है और उसमे अरिहन्त के योग्य गुण नही हैं, उसने घातिया कर्मों का क्षय नही किया है, केवल ज्ञान-दर्शन आदि गुण उसे प्राप्त नही हैं, उसमे अरिहन्त भगवान् की कोई भी विशेषता नही है, फिर भी 'अरिहन्त नाम होने के कारण उसे लोग 'अरिहन्त' कहते हैं। ऐसा अरिहन्त नाम-अरिहन्त कहलाता है।

स्थापना-अरिहन्त—किसी ने अरिहन्त भगवान् का चित्र बनाया है या पाषाण अथवा धातु की प्रतिमा बनाई है, उसकी आकृति अरिहन्त भगवान जैसी है, उसे स्थापना-अरिहन्त कहते है।

उस चित्र अथवा प्रतिमा मे नीला पीला रग दिखाई देता है, मुकुट आदि दिखाई देते है या नही भी दिखाई देते, फिर भी अरिहन्त का अनन्त चतुष्टय उसमे नही है। अरिहन्त भगवान् के वास्तविक गुणो से वह शून्य है।

कोई स्त्री अपने घर मे अपने पति का चित्र लगा ले तो वह चित्र कमाई करके नही ला सकता और न सन्तान को जन्म दे सकता है।

तो इस प्रकार अरिहन्त की प्रतिमा या चित्र को स्थापना-अरिहन्त कहते हैं।

द्रव्य-अरिहन्त—जो आत्मा अरिहन्त पद प्राप्त नही कर सका है किन्तु तीर्थंकर गोत्र का बन्ध कर चुका है और जो भविष्य मे अवश्य अरिहन्त पद प्राप्त करेगा, वह 'द्रव्य-अरिहन्त' कहलाता है।

आशय यह है कि वर्तमान काल मे जिसमे जो पर्याय नही है, उसे भी भूतकालीन अथवा भविष्यत्कालीन पर्याय के कारण उस पर्याय-वाचक शब्द से कहा जाता है। यह द्रव्य-निक्षेप है।

एक व्यक्ति डाक्टर नही बना है, डाक्टरी की परीक्षा उत्तीर्ण नही कर चुका है, परन्तु वह भविष्य मे डाक्टर बनने वाला है, इसी ख्याल से उसे वर्तमान मे डाक्टर कहा जाता है। वह द्रव्य डाक्टर है।

कोई पुण्यवान जीव तीर्थंकरगोत्र का वन्ध करके माता के गर्भ मे आया है, जन्म भी हो गया है, तीन ज्ञान का धारक है, अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान प्राप्त है, किन्तु अभी वह गृहस्थावस्था मे है तो वह द्रव्य-तीर्थंकर है। उसे साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका नमस्कार नही करते। वह तीर्थंकर होने वाला है पर ह नही ।

उसे नमस्कार क्यो नही किया जाता ? जन सिद्धान्त सब वातो पर ध्यान देता है। आप जानते है कि पक्षी दो पखो से उडता है। द्रव्य-तीर्थंकर मे चरित्र रूपी पख नही होता, अतएव चारित्र-धारी उसे नमस्कार नही करते। हाँ, सम्यग्दृष्टि उसे नमस्कार कर सकता है। सब देवी देवता और इन्द्र द्रव्यतीर्थंकर को नमस्कार करते है ।

द्रव्यतीर्थंकर चतुर्थ गुणस्थान मे होते हैं और श्रावक पाँचवें गुणस्थान मे। तीर्थंकर अपने भव मे पाँचवे गुणस्थान मे प्रवेश नही करते। वे चौथे गुणस्थान से सीधे ही सातवें गुण स्थान का स्पर्श कर छठे गुणस्थान मे स्थित होते है। पाँचवाँ गुणस्थान तो उन असमर्थ जीवो के लिए है जो षष्ठ गुणस्थान को प्राप्त नही कर सकते। तीर्थंकर पूरा व्यापार करने वाले हैं, अधूरा व्यापार नही करते।

ऊपर के गुणस्थान वाला नीचे गुणस्थान वाले को नमस्कार नही करता। या तो ऊपर के गुणस्थान वाले को नमस्कार किया जाता है या समान गुणस्थान वाले को। साधु-साध्वी मे सर्वविरति-चारित्र होता है और श्रावक-श्राविका मे देशविरतिचारित्र। मगर द्रव्यतीर्थंकर मे गृहस्थावस्था मे दोनो मे से कोई भी चारित्र नही है। इसी कारण वह पचम-षष्ठ गुणस्थान वालो के लिए नमस्करणीय नही है। किसी भी शास्त्र मे नमस्कार करने का विधान नही है।

अब देखना चाहिए कि जब द्रव्यतीर्थंकर को भी नमस्कार नही किया जाता तो स्थापनातीर्थंकर को, अर्थात् तीर्थंकर के चित्र या प्रतिबिम्ब को किस प्रकार नमस्कार किया जा सकता है ?

पचम गुणस्थान वाले श्रावक साधु-साध्वी को नमस्कार करते है परन्तु छठे गुणस्थान वाले साधु, श्रावक को नमस्कार नही करते, क्योकि श्रावक की अपेक्षा साधु का दर्जा ऊँचा है। हाँ, साधु साधु को वन्दन कर सकता है और श्रावक श्रावक को वन्दन कर सकता है।

पाँचवे और छठे गुणस्थान का आधार सम्यक्त्व है। अगर सम्यक्त्व है तो ये गुणस्थान प्राप्त हो सकते है। सम्यक्त्व नही है

तो चाहे अणुव्रत धारण करने की प्रतिज्ञा ली जाय, चाहे महाव्रतो को ग्रहण करने की घोषणा की जाय, वास्तव मे कोई भी व्रत प्राप्त नही होता। सम्यक्त्व के अभाव मे सब दभ है, वचना है, दिखावा है। चारित्र अगीकार करने के लिए मिथ्यात्व का त्याग सम्यक्त्व की विशुद्धि आवश्यक है।

मगर मिथ्यात्व का छूटना ही कठिन है। मिथ्यात्व इतना भयकर ठग है कि वह अपने अस्तित्व का भी भान नही होने देता। क्रोधी, मानी, मायावी, और लोभी समझता है कि मुझ मे क्रोध, मान, माया और लोभ रूप दोष हैं, पर मिथ्यात्वी यह भी नही समझता कि मुझ मे मिथ्यात्व का महान् विष भरा हुआ है। इस कारण इसका छूटना भी बहुत कठिन होता है।

मिथ्यात्वी अपने आपको मिथ्यात्वी नही मानता। यही नही, वहुत वार वह सम्यग्दृष्टि को मिथ्यादृष्टि और अपने को सम्यग्दृष्टि मानता है।

जो रोगी अपने रोग को जानता और मानता है, उसकी चिकित्सा होना सम्भव है। मगर जो रोगी यही नही जानता कि मुझे रोग है या नही, उसकी चिकित्सा होना अत्यन्त कठिन है।

मिथ्यात्व ऐसा ही रोग है, जिसका रोगी को पता नही चलता। यह महारोग अपने अस्तित्व का पता नही चलने देता। वह जिसे होता है, सर्वप्रथम उसकी सद्बुद्धि हर लेता है। इसके प्रभाव से रोगी अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। वह अपने को तथा जगत् के अन्य पदार्थों को अयथार्थ रूप मे ही देखता है। ऐसी स्थिति मे उसका इलाज कोई प्रभावशाली और अत्यन्त दयालु डाक्टर ही कर सकता है।

मिथ्यात्व का ही यह प्रभाव है कि अनेक नर-नारी शीतला, भवानी और भैरोजी आदि को पूजते हैं। धर्मशास्त्र सुनते-सुनते बाल पक गये, परन्तु मिथ्यात्व नही छूटा।

सज्जनो ! सामायिक और पौषध न बने तो उतना हर्ज नही, पर मिथ्यात्व से अत्यन्त हानि होती है। उसे सर्वप्रथम त्यागना चाहिए। मिथ्यात्व को त्यागे बिना मोक्षमार्ग पर प्रथम कदम भी नही रक्खा जा सकता। एक आचार्य कहते है —

जहा सुई ससुत्ता, पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवो ससुत्तो, ससारे न विणस्सइ॥

सुई मे डोरा पिरोया हुआ हो और वह गुम हो जाय तो ढूंढने पर जल्दी मिल जाती है। चण्डो, मुण्डी आदि मे आज तुम्हारी आत्मा गुमी हुई है, पर निराश होने की बात नही है। पृथ्वी पानी और वनस्पतिकाय मे भी एक भव करके मोक्ष जाने वाले विद्यमान हैं। इस पतनावस्था मे भी परीतससारित्व का डोरा उनके साथ पिरोया हुआ है। मिथ्यात्व का उदय आने पर सम्यक्त्व से जीव पतित हो जाते है। इस प्रकार सम्यक्त्व से पतित हुए जीव अनन्त है। मगर जिन्होने एक बार भी सम्यक्त्व पा लिया है, वे सदा काल ससार मे रुलने वाले नही। वे परीतससारी जीव एक नियत समय (आधे पुद्गलपरावर्त्तन) मे अवश्य मुक्ति प्राप्त करते हैं। जैसे सूर्य को आच्छादित करने वाले मेघो के हटते ही सूर्य स्वाभाविक प्रकाश बिखेरने लगता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व रूपी मेघपटल के हटते ही आत्मा का सम्यक्त्व चमक उठता है।

चढना मुश्किल होता है गिरना सरल है। वाटरवर्क्स मे पानी चढाना ही कठिन है, नीचे पहुँचाने मे कोई कठिनाई नही होती।

इसी कारण मैं वार-वार प्रेरणा किया करता हूँ कि मिथ्यात्व का त्याग करो। साधुओ का सयोग सदैव नही रहेगा, उनके उपदेश को ध्यान मे रक्खो। उसी से कल्याण का मार्ग मिलेगा। अगर उपदेश पर ध्यान देंगे तो मिथ्यात्व से बच सकेंगे। इसके समान अन्य कोई अहितकर नही है। यह जीव का भयकर वैरी है। कहा है —

मिथ्यात्व परमो रोगो, मिथ्यात्व परम तम ।
मिथ्यात्व परम शत्रुर्मिथ्यात्व परम विषम् ॥

मिथ्यात्व परम रोग है। यह एक असाधारण रोग है। शारीरिक रोग तो एक ही जन्म मे दु ख देता है, परन्तु मिथ्यात्व रोग सहस्रो जन्मो तक भी जीव को सताता ही रहता है।

मिथ्यात्व के समान कोई अन्धकार नही है। द्रव्य-अन्धकार चर्मचक्षु का ही प्रतिबन्धक होता है, परन्तु मिथ्यात्व-अन्धकार अन्तर्दृष्टि को भी बेकार बना देता है।

मिथ्यात्व के समान न कोई शत्रु है और न कोई विष है। पर असल देखा जाय तो मिथ्यात्व ही कर्मबन्ध का मूल कारण है। मैं ही यह नही कहता, दूसरे महापुरुषो ने भी ऐसा ही कहा है —

पटोत्पत्तिमूल यथा तन्तुवृन्द,
घटोत्पत्तिमूल यथा मृत्समूह ।
तृणोत्पत्तिमूल यथा तस्य वीज,
तथा कर्ममूल च मिथ्यात्वमुक्तम् ॥

जैसे सूत के ततुओ से कपडा वनता है, मिट्टी से घडा वनता है और अपने वीज से घास की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार

मिथ्यात्व से कर्मों की उत्पत्ति होती है। कर्मवध का मूल कारण यह मिथ्यात्व ही है।

जब तक मिथ्यात्व का अन्त नही आता और एक वार भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही हो जाती, तवतक जीव के भवभ्रमण की कोई सीमा निर्धारित नही होती।

सज्जनो! आपको वडा उत्तम अवसर मिला है। ऐसा अवसर अनन्त-अनन्त जीवो को अनादिकाल से अवतक एक बार भी नही मिला है। आप अत्यन्त पुण्यशाली है कि इस अवसर को प्राप्त कर सके हैं। आपको आर्यक्षेत्र, मनुष्यभव, उत्तमकुल, सद्धर्म आदि ऐसे प्रशस्त निमित्त मिल गये है कि थोडा-सा जोर लगाते ही वेडा पार हो सकता है।

आपको वीतराग देव की प्राप्ति हुई है, यह क्या कुछ साधारण बात है? किन्ही के देव शस्त्र धारण करते है, किन्ही के स्त्री रखते हैं तो किन्ही के न जाने कैसी-कैसी सवारियो पर चढे होते है। यह अनुमान करना कठिन नही कि त्रिशूल, गदा, मुद्गर, चक्र आदि शस्त्र वही धारण करता है जिसका कोई शत्रु हो और जिसे उसका निग्रह करना हो। शस्त्र धारण करना द्वेष भाव की विद्यमानता का सूचक है और जहाँ द्वेष है वहाँ राग अवश्यम्भावी है।

जिसके हृदय रूपी निर्झर से करुणा का अजस्र शीतल स्रोत प्रवाहित होता है, जो पूर्ण समभाव मे स्थित है और जिसके लिए जगत् के समस्त प्राणी आत्मवत् हैं, वह शस्त्र किसके लिए, किस उद्देश्य से धारण करेगा? जब आत्मसाधना के पथ पर चलने वाले सच्चे साधु भी शस्त्र धारण नही करते तो देव कैसे शस्त्र धारण कर सकता है?

जो स्वय चलने मे असमर्थ है, वह सवारी करता है। सामर्थ्यवान् सवारी का उपयोग तभी करता है जब उसे अपना गौरव दूसरो पर प्रकट करना हो, अर्थात् उसमे अहकार का विकार हो। जिस देव मे असामर्थ्य नही और अभिमान नही, उसे सवारी की आवश्यकता भी नही।

कई लोग अपने देव के पार्श्व मे महिला होने के सम्बन्ध मे बचाव करने के लिए कहते है कि ससार को मर्यादा सिखाने के लिए उन्होने ऐसा किया है, परन्तु दुनिया को यह सिखाने के लिए पाठशाला खोलने की आवश्यकता नही है। विषय विकार तो जन्मजात हैं। मोहनीय कर्म के उदय से वे स्वत उत्पन्न हो जाते है। ऐसी स्थिति मे जो परमाराध्य हैं, आत्मा के कल्याण के लिए जिन्हे आदर्श बनाया जाता है और विषय-विकारो से पिण्ड छुडाने के लिए जिनकी उपसना की जाती है, वे देव ही अगर विकारपोषण की शिक्षा दे तब तो हो चुका कल्याण इस दुनिया का!

अनादिकाल से जीव काम, क्रोध आदि विकारो से ग्रस्त है। समय-समय पर जो अध्यात्मनिष्ठ महापुरुष हुए हैं, उन्होने विषयो की हलाहल विष कह कर भर्त्सना की है और जगत् के जीवो को उनसे उपरत होने की प्रेरणा दी है। फिर भी दुनिया के लोग प्राय उनके चगुल मे फँसे हुए है और दुखी हो रहे हैं। अगर देव भी विषयविकार-सेवन की शिक्षा देने लगे तो यह तो आग मे घी होमने की बात होगी।

अग्नि के पास वही जाता है जो शीत से पीडित हो। भूखा ही भोजन का सेवन करता है। इसी प्रकार जिसे भोग की इच्छा होती है, वही स्त्री को अकशायिनी बनाता है। किसी ने कहा है—

श्रद्धावान् होकर उन्हे प्राप्त करने के लिए उद्यम करते हैं, उनका वेडा पार हो जाता है । अतएव अरिहन्त भगवान् की भक्ति मे अपने चित्त को रमाओ। मगर यह सब तभी बनेगा जब जीवन मे से मिथ्यात्व दूर हो जाएगा। इस समय तो नाना रूपो मे मिथ्यात्व ने अपनी जड जमा रक्खी है। कई लोग मृत साधु-साध्वी को नमस्कार करते है। यह भी मिथ्यात्व है। जब शरीर मे से आत्मा निकल गया तो शेष क्या रह गया ? वह निष्प्राण कलेवर महाराज नही, मिट्टी का ढेर है। हाड-मास का पीजरा है । उमे नमस्कार कैसा ? मगर प्राय सब नमस्कार करते हैं। एक गाडर भेड भ्या करती है तो सब उसकी देखा देखी भ्या-भ्या करती हैं।

एक बाई रोटी बनाने के लिए आटा ओसणती, जब रोटी बनाने लगती तो थोडा-सा तोडकर आटे के पिंड मे मिला दिया करती थी। हर बार वह ऐसा ही करती थी। उससे पूछा गया कि ऐसा क्यो करती हो ? तो वह बोली—मेरी सासू जी ऐसा करती थी, इसलिए मैं भी करती हूँ।

तो यह लोक गतानुगतिक है। दुनिया दिमाग से काम नही लेती और अन्धी होकर अनुकरण करती है। आटा थोडी देर गूदा हुआ पडा रहे तो उसमे पौष्टिकता और लेस आ जाती है। इसलिए तोडकर देखा जाता है कि रोटी बनाने योग्य हो गया है या नही ? यह था आटा तोडकर उसी आटे मे लगाने का मतलब, किन्तु आज तो यह एक रसम हो गई है। इसका सही अर्थ कोई ही समझता होगा।

आज लोगो का भोजन की शुद्धि की ओर ध्यान नही है। जैसा मिलता है, वैसा ही पेट मे डाल लेते हैं। पर कहावत है—'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।' भोजन का बुद्धि पर प्रभाव पडे

बिना नही रहता। भ्रष्ट भोजन करने के कारण लोगो की बुद्धि भी भ्रष्ट हो रही है। होटलो के कारण भोजनशुद्धि का विचार ही नही रह गया है। होटल वालो का एक मात्र लक्ष्य पैसा बनाना होता है। उन्हे खाने वालो के स्वास्थ्य की कोई चिन्ता नही है। बहुत-से होटलो मे तो मास अडे आदि भी काम मे लाये जाते हैं। सौराष्ट्र के सस्कार तो फिर भी ठीक हैं, वहाँ प्राय मास, अडा, मछली आदि बाज़ार मे देखने मे नही आते। कही-कही तो शुद्ध आहार मिलना भी कठिन हो जाता है। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि भोजन का विचारो के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। सात्विक और शुद्ध भोजन से विचारो मे सात्विकता आती है और सात्विक विचार होने पर ही आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी विचारो का उद्भव हो सकता है।

सज्जनो ! आत्मा का विषय अत्यन्त गभीर और सूक्ष्म है। आत्मा को समझने के लिए बहुत साधना की आवश्यकता है। आत्मा यदि रूपी वस्तु होती तो उसे आँखो से देख लेते, मगर उस मे रूप नहीं है, उसमे रस, गध और स्पर्श भी नही है, अतएव वह किसी भी इन्द्रिय से गम्य नही है। उसे समझने के लिए अन्तर्दृष्टि जागरित होनी चाहिए।

आचारागसूत्र मे आत्मा के विषय मे कहा है—'सरा तत्थ निवत्तते।' अर्थात् आत्मा वह सूक्ष्म तत्त्व है जहाँ स्वर-वचन निवृत्त हो जाते हैं। आत्मा की उस बारीक दुनिया मे शब्द का प्रवेश नही हो सकता। आत्मा को समझने के लिए स्वर उपयोगी नही होते। वाणी द्वारा उसकी अभिव्यक्ति नही हो सकती।

केवल शब्द ही नही, तर्क के तीर भी उस तक नही पहुँच सकते। तर्क-वितर्क करने से आत्मा को पहचानना शक्य नही है। तर्क-वितर्क से मनोविनोद भले हो जाय, पर आत्मा नही समझी जा सकती। कोई भी भौतिक साधन अभौतिक आत्मा की पहचान नही करा सकता। आत्मा अतर्क्य है, अवक्तव्य है अ दृश्य है। आत्मा आत्मा के द्वारा ही समझी जा सकती है। अन्य कोई साधन वहाँ काम नही आ सकता।

आत्मा को समझाने के लिए जो भी उदाहरण दिये जाते है, सब एकदेशीय है। विश्व मे दूसरी कोई वस्तु नही है जो आत्मा की समानता कर सके, जिसके गुण आत्मा के गुणो के सदृश हो। आत्मा मे अनन्त असाधारण निधियाँ हैं। ये निधियाँ किसी धमस्थानक मे, मन्दिर मे या मस्जिद मे नही है, आत्मा के ही साथ हैं और आत्मा मे ही है। हीरा की ज्योति हीरा मे ही है।

एक साहूकार के पास अरबो का धन था। आप जानते ही हैं कि लाखो, करोडो या अरबो का धन सारा का सारा उपभोग मे नही आता। मनुष्य केवल तृष्णा और लोभ के कारण ही उसे सभाले बैठा रहता है और बढाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। करोडपति या अरबपति होने के कारण वह हीरा-मोती नही खाता। साधारण अन्न और वस्त्र पर ही उसे जीवन व्यतीत करना होता है। सारे धन को वह काम मे नही ला सकता। हाँ, उससे मनुष्य के अहकार को अवश्य खुराक मिलती है। उस धन के कारण वह अपने को दूसरो से बडा समझ कर अभिमान करता है।

मगर उसका अभिमान क्या अक्षुण्ण रहता है? जब वह अपने से भी अधिक धनवानो को सामने देखता है या उनके सम्वन्ध मे विचार करता है तो उसका अभिमान चूर-चूर हो जाता है। इसके

अतिरिक्त उसका अभिमान उसी के लिए बडा महँगा पडता है। अभिमान पोषण के लिए उसे अत्यधिक मूल्य चुकाना पडता है। धनवान् को धन की सुरक्षा के लिए कितना चिन्तित रहना पडता है, यह वात धनी से लोग समझ सकते है। वह रात-दिन चिन्ता मे डूबा रहता है। क्षण भर के लिए कभी शान्ति नही, निराकुलता नही।

वित्तवान् को हि लोकेऽस्मिन्निश्चिन्त कुत्रचित् वसेत्।
अपि स्वप्नेऽपि तस्यास्ति, भय राजादिज महत्॥

अर्थात्—धनवान् पुरुष इस लोक मे कही भी निश्चिन्त होकर नही रह सकता। रात मे सोता है तो स्वप्न मे भी उसे राजा आदि का भय ही सताता रहता है। क्योंकि—

राजत सलिलादग्नेश्चौरत स्वजनादपि।
भयमर्थवता नित्य, मृत्यो प्राणभृतामिव॥

यह धन मौत के समान भयकर है। जैसे मनुष्य के मन पर मौत का भय छाया रहता है कि न जाने किस दिन और किस क्षण आकर वह इस जीवन को समाप्त कर देगी, उसी प्रकार धन का भी भय बना रहता है। पुराने जमाने मे राजा लोग धनियो के धन का अपहरण कर लिया करते थे। आज राजा लोग नही रहे है जनतन्त्र राज्य है, पर राजकीय कानून आज ऐसे वन रहे हैं कि धनवान् अब अधिक धनवान् नही वन सकेंगे। देश मे समाजवाद के सिद्धान्त को अपनाया जा रहा है। धनी और निर्धनो के वीच की विषमता को मिटाने का प्रयत्न हो रहा है। वहुत से महत्त्वपूर्ण व्यापार अव सरकार अपने हाथ मे ले रही है और जिन्हे नही ले रही है उन पर भी तरह-तरह के अकुश लगा रही है। अतएव राजशासन धनियो

के भय का कारण बना ही रहता है। वे सोचते हैं—आज तो यह सरकार है जो धनवानो के प्रति क्रूर व्यवहार न करती हुई आर्थिक समानता की ओर बढ रही है, किन्तु किसी समय अगर कम्युनिस्ट पार्टी के हाथ मे सत्ता आ गई तो हमारी क्या गति होगी ? कम्युनिस्ट लोग दया करना नही जानते। उन्हे खूनखराबी से भी परहेज नही है। वे गोली मार कर भी धनवानो के धन का अपहरण कर सकते है इत्यादि रूप मे राज्य से उन्हे भय बना रहता है।

कभी-कभी बाढ आ जाती है और उसके कारण लखपति कगाल हो जाता है। हवेली या कारखाने मे आग लग जाती है और लाखो की सम्पत्ति देखते-देखते भस्म हो जाती है। धनवान् को इस प्रकार पानी और आग का भी सदा भय बना रहता है।

जहाँ पानी की बाढ आने का खतरा न हो, आसपास मे कोई नदी न हो और आग की भी चिन्ता न हो, वहाँ भी धनवान् निश्चिन्त नही हो सकता। आखिर चोर तो सभी जगह हो सकते हैं। उनकी पहुँच कहाँ नही है ? वे सख्त से सख्त पहरे मे भी रास्ता बना लेते है। उनके द्वारा होने वाले भय से छुटकारा कैसे पाया जा सकता है ?

चोरो के भय के साथ स्वजनो के भय से भी कैसे बचा जा सकता है ? भाई, भतीजा आदि कब असन्तुष्ट हो जाएँ, कब उनके मन मे लोभ या पाप की प्रकृष्टता उत्पन्न हो जाय, कौन जानता है ? वे अपना हिस्सा माँग ले या सारा धन हडप लेने की नीयत से प्राण ही ले बैठें, क्या ठिकाना है !

हाँ, तो वह अरबपति साहूकार इसी प्रकार के भयो से ग्रस्त और त्रस्त रहता था। उसने अपने धन की रक्षा का एक उपाय सोचा। एक बावडी खुदवाई और उसमे धन गाड दिया। ऊपर से

आठ शिलाएँ डाल दी। आसपास के झरनो से बावडी मे पानी भर गया।

इतनी व्यवस्था करके साहूकार ने समझ लिया कि मेरा धन सुरक्षित हो गया।

मारवाड के एक गाँव की बात है। वहाँ एक धनी भयक्र गर्मी के दिनो मे भी घर के भीतर ही सोता था। वस्त्र उसके अत्यन्त मलीन। देख कर कोई नही समझ सकता था कि इसके पास पैसे की प्रचुरता है।

लक्ष्मी दो रूपो मे प्राप्त होती है, पुत्री के रूप मे और पत्नी के रूप मे। पुत्री के नाते प्राप्त लक्ष्मी वह है जो उपभोग मे नही आ सकती और रखवाली करके दूसरो को सौंप दी जाती है। ऐसे लोगो ने लाभान्तराय को तोडा है, पर भोगान्तराय कर्म को नही तोडा है। कई सेठ ऐसे भी मिलेंगे जो स्वय शाक खरीदने जाते है और बचा खुचा, सडा-गला खरीद कर लाते हैं। रूखी रोटियाँ खाते हैं। ऐसे लोगो को भोगान्तराय कर्म का प्रबल उदय है।

जो लक्ष्मी पत्नी के नाते मिलती है, उसका उपभोग किया जाता है और यदि विवेक बुद्धि हो तो सदुपयोग किया जाता है।

माया की तीन गतियाँ हैं—दान भोग और नाश। प्राप्त सम्पत्ति से गरीबो को राहत पहुँचाना उत्तम मार्ग है। सुपात्र को दान देने से बढकर सम्पत्ति का अन्य कोई उपयोग नही हो सकता। परन्तु जो कजूसी के कारण दान भी नही दे सकते, वे और उपभोग नही कर सकते बेचारे यो ही रह जाते हैं। सम्पत्ति अपना तीसरा रास्ता पकडती है—नष्ट हो जाती है।

गृहस्थो को तीन शक्तियाँ प्राप्त है—तन, मन और धन। ये

शक्तियाँ विवेकी पुरुष की सत्कार्य मे लगती हैं और अविवेकी की असत्कार्य मे। धर्मी पुरुष इन्ही से धर्म करके आत्मा का हित कर लेता है और अधर्मी पुरुष पापोपार्जन करके अपने भविष्य को मलीन और दु खमय वना लेता है। वह अज्ञानी नही जानता कि कितने पुण्य के उदय से उसे ये शक्तियाँ प्राप्त हुई है। मूढ पुरुष चिन्तामणि रत्न को कौवा उडाने के लिए फेक देता है, उसी प्रकार अज्ञानी अपनी शक्तियो को पापोपार्जन मे व्यय कर देता है।

साधुओ के पास तो केवल दो ही शक्तियां है—तन और मन। गृहस्थो के पास तीन शक्तियाँ हैं तन, मन और धन। जिसके पास जो शक्ति है, उसे उसका सदुपयोग ही करना चाहिए। शक्ति का महत्त्व उसकी प्राप्ति मे उतना नही, जितना उसके सही उपयोग मे है। अगर कोई उत्तम से उत्तम प्राप्त हुई शक्ति का दुरुपयोग करे तो उसकी प्राप्ति का महत्त्व ही क्या रहा ? वही शक्ति सार्थक है जो आत्मकल्याण के साथ-साथ समाज और सघ के अभ्युदय मे काम आती है।

साधुओ को अपनी मर्यादा मे रहना पडता है। उसके वचन बोलने की भी मर्यादा है और कार्य करने की भी मर्यादा है। साधु मर्यादा के भीतर रह कर कई बातो का उपदेश तो कर सकता है, किन्तु आज्ञा नही दे सकता। पुण्य आदि कार्यों का उपदेश दे सकता है किन्तु उन्हे करने की आज्ञा नही दे सकता। सामयिक और पौषध आदि धर्म कार्यों का उपदेश और आदेश भी कर सकता है। जहाँ साधु सिर्फ उपदेश ही कर सकता है, बुद्धिमान् श्रावक उसे इशारे से ही समझ लेते हैं। वाप बेटे को सामान जुटा देता है, आगे गृहस्थी चलाना बेटे का काम है।

'न धर्मो धार्मिकैर्विना' अर्थात् धर्मात्माओ के विना धर्म नहीं चलता। वह अपने आप मे पगु है। चारो तीर्थ अपने-अपने उत्तरदायित्व को समझें और निभावें तो धर्म की उन्नति हो। मगर आज धर्मशासन की चिन्ता किसको कितनी है, यह कहने की आवश्यकता नही। आज धर्म की उपेक्षा हो रही है, इसी कारण अधोगति दिखाई देती है।

अगर आप धर्म के उत्थान के लिए अधिक कुछ नही कर सकते तो कम से कम इतना तो अवश्य करो कि अपना जीवनव्यवहार गृहस्थधर्म के विपरीत न करो। जनसाधारण किसी धर्म के सिद्धान्तो की गहराई मे प्रवेश नही करता। न उसमे इतनी योग्यता होती है और न इतना अवकाश। वह धर्म के अनुयायियो के आचरण को देखकर ही उनके धर्म की अच्छाई या बुराई का निर्णय कर लेता है। अतएव अगर आपके जीवन मे नैतिकता, प्रामाणिकता, सरलता, सहृदयता और उदारता होगी, आप व्यापार आदि व्यावहारिक कार्यों मे भी कभी अप्रामाणिकता न दिखलाएँगे तो लोगो की आपके धर्म के प्रति आस्था बढेगी। जव लोग देखते हैं कि जैन धर्मानुयायी के जीवन मे जैनेतर के जीवन मे कोई विशेषता नही है तो वे यह भी समझ बैठते है कि जैसे दुनिया के अन्यान्य धर्म हैं वैसे ही एक जैन-धर्म भी है। उनके हृदय मे इस उत्तम धर्म के प्रति भी विशिष्ट श्रद्धा उत्पन्न नही होती और साधुओ का उपदेश भी उनके दिल पर प्रभाव नही डाल पाता। साधुओ का जो उपदेश हो उसी के अनुकूल आपका जीवन होना चाहिए। तव धर्म का उत्थान हो सकता है।

याद रक्खो, जवतक आपका प्रत्येक व्यवहार धर्मानुमोदित नही वन जाता, तवतक आत्मोपलब्धि नही हो सकती। धर्म की भावना के विना आत्मा नही मिल सकती।

हाँ, तो बावडी मे धन दबा देने वाले सेठ जी एक दिन चल बसे। जीवन का सब से बडा सत्य मृत्यु है। मृत्यु के बाद जीवन हो या न हो, सम्भव है कोई सदा के लिए मुक्ति प्राप्त कर ले, मगर जीवन के पश्चात् मृत्यु तो अनिवार्य ही है।

मौत किसी को नही छोडती। वह कुछ क्षणो की छुट्टी भी नही देती। कोई चाहे कि पाँच मिनट अधिक जीवित रहने का समय मिल जाय, सो भी सम्भव नही है। आयु कर्म की समाप्ति होने पर अवश्य मरना पडता है।

सेठ जी चल बसे और थोडे दिनो बाद उनके लडको को भूखो मरने का अवसर आ गया। कोई उधार भी नही देता।

अच्छा हुआ कि सेठजी बही-खाता अपने साथ नही ले जा सके और न बावडी मे दबा गये धन को ले जा सके। उनके लडको ने एक दिन बैठे-बैठे बही के पन्ने पलटने शुरू किये। सोचा - किसी मे कुछ लेना शेष हो तो काम आवे। देखते-देखते एक जगह लिखा मिल गया कि बावडी मे करोडो का धन दबा हुआ है।

यह पढ कर लडको की प्रसन्नता का पार न रहा। उन्होने बावडी का पानी निकलवाना शुरू किया, पर बडी कठिनाई पेश आई। दिन को पानी खाली करवाते और रात मे फिर ज्यो का त्यो भर जाता। यह देख कर उन लडको को बहुत निराशा हुई।

इसी अवसर पर कोई महापुरुष आ गया। सेठ के लडको ने उसके सामने अपनी कठिनाई उपस्थित की तो उसने बतलाया— सब से पहले किसी डुबकी लगाने वाले को बुलाओ। वह देखे कि बावडी मे पानी आने के कितने स्रोत हैं ? उन स्रोतो को पहले बन्द करा दो। उन्हे माप कर डाट लगा दो। उसके बाद पानी निकलवाना।

लडको ने ऐसा ही किया। जल के स्रोतो को बन्द किया और भरा हुआ पानी बाहर निकलवाया। इस उपाय से बावडी पानी से खाली हो गई। मगर जबर्दस्त आठ शिलाओ का टूटना साधारण बात नही थी। बहुत परिश्रम करने पर वे शिलाएँ टूटी। तब कही वह करोडो की सम्पत्ति उन्हे मिली। उसे पाकर वे मालामाल हो गये। उनकी दीनता मिट गई, दुःख दूर हो गये।

यह एक व्यावहारिक दृष्टान्त है। इसे आत्मा के सबध मे घटित करना चाहिए। यह आत्मा वह बावडी है, जिसमे असीम ज्ञान-दर्शन आदि की सम्पत्ति भरी पडी है। मगर उस सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए अनेक विघ्नो पर विजय प्राप्त करनी है। आठ कर्म-रूपी शिलाएँ आडी पडी हैं और निरन्तर आश्रव रूपी द्वारो से आत्म रूपी बावडी मे नवीन-नवीन कर्म रूपी जल भरता जा रहा है। इसी कारण पूर्व सचित कर्म-जल की निर्जरा होने पर भी उनका अन्त नही आ रहा है। जबतक नवीन आश्रव अवरुद्ध न कर दिया जाय तबतक समस्त कर्मों का अन्त आना असभव है। आश्रवद्वार रूपी झरने अप्रतिरुद्ध गति से आत्मा रूपी बावडी मे नया-नया जल उडेल रहे हैं। मिथ्यात्व, अविरति (हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से विरत न होना), प्रमाद, कषाय और योग, यही वे झरने है जिनसे नया-नया जल निरन्तर भरता रहता है। आत्मिक सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए इन आश्रवो को सर्वप्रथम रोकने की आवश्यकता है। जब आश्रवो का निरोध हो जाता है अर्थात् सवर के द्वारा नवीन कर्मों का आना रुक जाता है और तपस्या आदि के द्वार पूर्वसचित कर्मों को क्षीण कर दिया जाता है, तब कर्म चट्टानो को तोडने का अवसर मिलता है। उन चट्टानो के टूटते ही असीम

आध्यात्मिक सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है। समस्त दैन्य और दु ख का अन्त हो जाता है और आत्मा परमैश्वर्य का भागी बनता है।

अभिप्राय यह है कि आत्मा की निधि कही अन्यत्र नही है। वह आत्मा मे ही छिपी है और वही मिल सकती है, सिर्फ समुचित उपाय करने की आवश्यकता है।

भाव अरिहन्त—वह विशुद्ध आत्मा है जिसे आत्मिक सम्पत्ति प्राप्त हो गई है, जिसने चार घातिक कर्मों का अन्त कर दिया है। उनकी उपासना करो, उन्ही की स्तुति करो और उन्ही की आराधना करो। भाव-अरिहन्त ही आपके काम आएँगे और उन्हे भी कही दूसरी जगह खोजने की जरूरत नही है। अन्तर्दृष्टि बनने पर आपके भीतर ही भाव-अरिहन्त की जाज्वल्यमान ज्योति चमक उठेगी।

जो भव्यजीव भाव-अरिहन्त की स्तुति करते हैं वे अक्षय सुख के भागी बनते है।

राजकोट,
१२—८—५४

दयालु देव

अगर वीर स्वामी हमे ना जगाता,
तो दुनिया मे कैसे नया रग आता ?
न होता उदय वह ज्ञान का सूरज,
तो कैसे अविद्या-अधेरा नशाता ?
न बचता पशु एक भी बलि यज्ञ से,
अहिंसा का सिहनाद जो न सुनाता ।।

उपस्थित भव्य आत्माओ !

चरमतीर्थंकर विश्वहितकर शासनप्रवर्त्तक भगवान् महावीर स्वामी ने जगत् का जो उपकार किया है, वह अनिर्वचनीय है । उसका शब्दो द्वारा वर्णन करना किसी के लिए भी सभव नही है। भगवान् महावीर ने करीव साढे वारह वर्ष तक अत्यन्त कठिन तपश्चर्या की, इतनी कठिन कि उसके वर्णन मात्र से शरीर के रोगटे खडे हो जाते हैं। प्रभु ने नाना प्रकार के भयकर, मानुष और तिर्यञ्चयोनिक उपसर्ग सहन किए । वे ससार के असाधारण तपस्वी थे। राजकुमार होकर और राजमहल मे अपना वाल्यकाल विता कर भी उन्होने जगत् के उद्धार और आत्मोत्थान के लिए भिक्षुक जीवन अगीकार किया। तपस्या की भट्ठी मे शरीर को झोक दिया।

सर्वोत्कृष्ट तपस्या के परिणामस्वरूप भगवान् को सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक वैभव की उपलब्धि हुई। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी पद से विभूषित हुए। तत्पश्चात् भगवान् ने जगत् के जीवो को धर्म का

बोध प्रदान किया। अपने समय मे प्रचलित नाना प्रकार की भ्रान्तिमय धारणाओ का उन्मूलन किया। धर्म के नाम पर चलने वाले पाखण्डो का भडा फोडा। सामाजिक वैषम्य को, जो अनीति और जुल्म पर आधारित था, दूर किया। अहिंसा का दिग्दिगन्तव्यापी प्रचार किया। तरह-तरह की लोकमूढताओ के अभिशापो का अन्त किया।

भगवान् ने चतुर्विध सघ की स्थापना की, जिससे उनका धर्म शासन चिरकाल तक व्यवस्थित रूप से चलता रहे। भोगविलासमय जीवन दु ख का जनक है, यह समझा कर लोगा को तप, त्याग और सयम के पथ मे प्रवृत किया। सक्षेप मे, भगवान् की देन अनुपम है। आज हमे जो भी प्रकाश प्राप्त है, वह भगवान् के ही अलौकिक ज्ञान का फल है। अतएव जितना भी उनका गुणगान किया जाय, वह थोडा ही है।

मेरे कथन का आशय यह न समझ लिया जाय कि भगवान् महावीर ने किसी नूतन अभूतपूर्व धर्म की सस्थापना की। नही, उन्होने प्राचीन काल से चले आये जिन धर्म को वेग प्रदान किया और इस ढग से धर्मतत्त्व को प्रस्तुत किया कि अपने युग के लोग उसे सरलता से समझ सके और वक्तापूर्वक अन्यथा प्रकार की कल्पनाओ को अवकाश न रहे।

धर्म वस्तुत शाश्वत है। 'वत्थुसहावो धम्मो' अर्थात् धर्म वस्तु का स्वरूप है, अतएव जैसे अपने मूल रूप मे वस्तु अनादि-अनन्त है, उसी प्रकार धर्म भी अनादि-अनन्त है। फिर भी सयम-समय पर उसे वेग देने की आवश्यकता होती है।

एजिन मे शक्ति है पर उस शक्ति का प्रयोग करने के लिए ड्राइवर चाहिए। धर्म एजिन है जो आत्मा रूपी गाडी को मोक्ष तक पहुँचा देता है। परन्तु उसका सचालन कर्ता होना चाहिए।

तीर्थंकर धर्म रूपी एंजिन के ड्राइवर हैं, जो अनन्त जीवो को मोक्ष तक ले गये।

धर्म को अगर रथ समझ लिया जाय, जिस पर आरूढ होकर मनुज्य मुक्ति-धाम पहुँचता है, तो तीर्थकर भगवान् को सारथी कहना उपयुक्त होगा।

यद्यपि सारथी स्वय रथ को नही खीचता, तथापि वह रथ का नियत्रण करता है। वह मार्ग को जानता है, अतएव रथस्थ लोगो को सकुशल इष्ट स्थान तक पहुँचा देता है। सारथी न हो तो रथ बेचारा क्या कर सकता है ? उसकी गति सारथी के ही अधीन है।

एंजिन मूर्ख के हाथ मे पड कर कुमार्ग मे जा सकता है और यात्रियो के प्राणो के लिए खतरा बन सकता है। जो चलाने की कला नही जानता और मार्ग से अपरिचित है, वह ड्राइवर सकुशल यथेष्ट स्थान पर नही पहुँच सकता।

भगवान् महावीर कुशल सारथी थे। उन्होने भूले भटके लोगो का पथप्रदर्शन किया। जो उनके द्वारा बतलाए गए धर्मरथ पर आरूढ हुए, उन्हे शिवनगर मे पहुँचाया। आज भी जो उनके द्वारा प्रतिपादित पथ पर चलते है, वे अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेते है।

भूला हुआ पथिक चोरो-डकैतो का शिकार बन जाता है। कभी-कभी निष्ठुर डकैत पथिक को पेड से बाँध देते हैं और आँखो पर पट्टी बाँध देते है, जिससे वह कल्पना भी न कर सके कि वे चोर किस ओर गये हैं। जब कोई पथिक इस प्रकार की विषम स्थिति मे पड जाता है तब उसे कितनी चिन्ता होती होगी ? जहाँ मनुष्यो का आवागमन नही है, सुनसान सघन वन है, अन्न-पानी भी नसीब नही

है, हाथ-पैर बँधे हैं और नेत्रो पर पट्टी है! कितनी दयनीय दशा है! क्या ऐसे समय कोई जीवन से निराश नही हो जाता ?

भाग्यवशात् अकस्मात् कोई दयालु पुरुष उधर से निकले और उस दशा मे उस पथिक को देखे और उसे बन्धनमुक्त करने के लिए उसकी ओर बढे तो सूखे पत्तो को खडखडाहट सुनकर और किसी की पगध्वनि सुनकर उसकी घबराहट और भो अधिक बढ जाती है। वह थर-थर काँपने लगता है। सोचता है—अब प्राणो का अन्त आया। अब इस जिदगी के बचने की कोई आशा नहीं है। इस प्रकार वह घोर सकट का अनुभव करता है।

प्राणी को प्राणभय सब से बडा भय है। कहा है—

धनकोटिं परित्यज्य जीवो जीवितुमिच्छति।

करोडो का धन एक तरफ हो और जीवन दूसरी तरफ हो तो मनुष्य उस धन को तुच्छ समझ कर जीवन को ही पसद करेगा। मूढ से मूढ और लोभी से लोभी भी धन के लिए प्राण देना नही चाहेगा।

कहावत है—'आप मरे जग प्रलय।' जब रुपया लेने वाला ही मर गया तो उन रुपयो की उसके लिए क्या उपयोगिता रही ?

प्राण करियाणा—लून-तेल जैसी वस्तु नही है जो रुपये से खरीदे जा सकते हो। वे अपने ही पुरुषार्थ से प्राप्त होते है। जिस जीव ने जैसी करणी की है उसे उतने ही प्राणो की प्राप्ति होती है। एकेन्द्रिय जीव की करणी ओछी है, अत उसे चार प्राण मिलते हैं। उसकी अपेक्षा द्वीन्द्रिय की करणी अधिक होने से उसे छ प्राण प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार करणी अर्थात् पुण्य की अधिकता के

अनुसार त्रीन्द्रिय को सात, चतुरिन्द्रिय को आठ, असज्ञी पञ्चेन्द्रिय को नौ और सज्ञी पचेन्द्रिय को दस प्राण प्राप्त होते हैं।

असज्ञी पचेन्द्रिय तक के जीवो को मन, जो सब इन्द्रियो का राजा है, प्राप्त नही होता। मन के द्वारा ही पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक, सुफल-दुष्फल आदि का विवेक और बोध होता है। मन प्राप्त न होने से असज्ञी पचेन्द्रिय तक की सुख-दु ख की अनुभूति अव्यक्त है। ये जीव नही समझ पाते कि हमारे लिए श्रेयष्कर और अश्रेयष्कर क्या है ? वे केवल जीवनोपयोगी स्थूल बातें ही समझ पाते है। जैसे मनुष्य किसी के कथन को श्रवण करके उसके आशय को समझता है, उसके औचित्य-अनौचित्य पर विचार करता है, तदनुकूल प्रवृत्ति-निवृत्ति करके अपना हिताहित साधन करता है, उस प्रकार असज्ञी जीव नही कर सकते। यह काम मन का है और मन रूपी शक्ति उनको प्राप्त नही है।

जिन जीवो को मन प्राप्त होता है, वे सज्ञी पचेन्द्रिय कहलाते हैं। उन्हे समनस्क भी कहते है। समनस्क जीव सुन करके विचार कर सकते है, क्योकि विचार करने—मनन करने—की शक्ति को मन कहा गया है। असज्ञी जीव सुन सकते है, उस सुने हुए से लाभ नही उठा सकते। जैसे पानी आया और चला गया, उसी प्रकार असज्ञी जीवो के कानो मे शब्द पडा और निकल जाता है। उसका कोई सस्कार या बोध उनमे नही रहता। वे शब्दो को सुनकर भी उनका अभिप्राय नही समझ सकते और इस कारण उससे कोई लाभ भी नही उठा सकते। उनमे हित-अहित की विचारणा नही है।

इस प्रकार दस प्राणो मे मन मूर्धन्य प्राण है। वह ससारी जीव की सब से बडी शक्ति है। उसी के द्वारा जीव अपने भविष्यत्

कालीन सुख-दु ख का विचार करता है। यह कार्य करने से यह परिणाम निकलेगा, इस प्रकार की विवेचना मन के द्वारा ही होती है।

आप जानते है कि जो शक्ति जितनी महत्त्वपूर्ण होती है, उसका सदुपयोग जैसे विशेष हितकर होता है, वैसे ही दुरुपयोग विशेष अहितकर होता है। इसी तथ्य को सामने रख कर कहा गया है—

मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयो ।

अर्थात् मनुष्यो का—जीवो का—मन ही कर्मबध एव कर्ममोक्ष का प्रधान कारण है।

आध्यात्मिक साधना मे सब मे बडी महत्त्वपूर्ण बात मन का सयम ही है। मन को वशीभूत करने के लिए ही सब अनुष्ठान किये जाते हैं। तपश्चरण चाहे बाह्य हो या अन्तरग, मनोनिग्रह के लिए है। स्वाध्याय और ध्यान का लक्ष्य भी मन को वश मे करना ही है। योगसाधना भी इसी उद्देश्य से की जाती है। जिसका मन वशीभूत हो गया है, उसे अन्य साधना की आवश्यकता हो नही रहती।

साधना का निचोड इन शब्दो मे आ जाता है—

वश मनो यस्य समाहित स्यात्,
कि तस्य कार्यं नियमैर्यमैश्च ।
हत मनो यस्य च दुर्विकल्पै,
कि तस्य कार्यं नियमैर्यमैश्च ॥

अर्थात्—जिसका मन समाधियुक्त हो गया है, उसे नियमो और यमो से क्या करना है! और यदि मन, राग-द्वेष की परिणति से दूषित है, नाना प्रकार के पापमय विकारो से दूषित है और चचल तथा विकृत है तो ऊपर से लादे गये नियम-यम किस काम के हैं!

तात्पर्य यही है कि नाना प्रकार के नियम और व्रत मन को आत्मा मे एकाग्र करने के लिए ही है। अगर यह प्रयोजन सिद्ध हो गया है तो समझना चाहिए कि साधना सफल हो गई है।

किन्तु मन का सयत हो जाना साधारण बात नही है। वह बडा चपल, हठी और बलवान् है। बहुत-बहुत प्रयत्न करने पर भी वह वशीभूत नही होता। भक्त मन को भगवान् के साथ जोडने के लिए माला फेरता है, मगर माला हाथ मे रह कर फिरती जाती है और मनीराम जी न जाने कहाँ खिसक जाते हैं। साधक ध्यान करने के लिए आँखें मूद कर बैठता है, पर आँखे मुदी रह जाती है और मन स्वैर विहार करने के लिए चल पडता है। ऐसी स्थिति मे मन का सयम करना सरल नही है। फिर भी अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उसे नियन्त्रित करना असभव नही है। असभव होता तो साधना का उपदेश ही क्यो दिया जाता ? अशक्यानुष्ठान के लिए कोई किसी को उपदेश या आदेश नही देता। लगातार प्रयत्न करने से मन काबू मे आ ही जाता है।

अभिप्राय यह है कि दस प्रकार के प्राणो मे मन ही प्रधान है। मन बडी जबर्दस्त शक्ति है। उसका सदुपयोग महान् कल्याणकर होता है और दुरुपयोग अत्यन्त अकल्याणकारी सिद्ध होता है।

हाँ, तो ये प्राण मूल्य से नही खरीदे जा सकते। यदि मूल्य से खरीदे जा सकते तो राजा-महाराजा और सेठ-साहूकार कभी न मरते। वे पैसे देकर नये प्राण खरीद लेते और इस प्रकार अजर-अमर हो जाते। मगर ऐसा होना सभव नही है।

फटा कपडा साधा जा सकता है, टूटी हुई रस्सी फिर जोडी जा सकती है, मगर जो आयु एक प्रकार टूट चुका, उसे साधना सभव नही।

जब भगवान् महावीर का निर्वाणकाल सन्निकट आया तो इन्द्र ने उनसे निवेदन किया—प्रभो ! इस समय चन्द्र के साथ भस्मग्रह का योग है। आपके जीवन-काल मे बहुत-सा समय तो व्यतीत हो चुका है, अब सिर्फ दो घडी ही शेष है। दो घडी के पश्चात् यह योग समाप्त हो जाएगा। भगवन् ! आप महाबली है, लोकोत्तर सामर्थ्य से सम्पन्न हैं, थोडी आयु बढा लीजिए।

भगवान् ने कहा—यह अशक्य है देवराज ! आयु बढने वाली वस्तु नही है। वह क्षण-क्षण मे क्षीण होती है पर बढ नही सकती। तीर्थंकर भी आयु मे साँध नही लगा सकते।

आज के लोग आयु बढाने के लिए विविध प्रकार के पापमय उपाय काम मे लाते है। कोई मास खाते है तो कोई अण्डे चूसते है। कोई कॉड-लीवर-आयल का उपयोग करते हैं तो कोई दूसरे प्राणियो के अगो का उपयोग करते है। ऐसा करने वालो मे से एक भी सदा के लिए जीवित नही बचा और बच भी नही सकता। वे प्राणियो के प्राण हरण करके पाप के भागी बनते हैं और मर कर अधोगति मे जाते हैं।

पटियाला के भूतपूर्व राजा भूपेन्द्रसिह जब मरने लगे तो उनके राजगुरु ने, जो बगाली था और काली देवी का उपासक था, हजारो भैसो और बकरो की बलि चढवाई, मगर राजा न बचा। वह अपनी आयु समाप्त होते ही चल बसा। बेचारे मूक बकरो और भैसो का निष्ठुर कत्ल हुआ सो मुफ्त मे।

पटियाला रिसायत मे सनाम नामक एक कस्बा है। वहाँ के पुलिस-इस्पैक्टर ने काली का एक मन्दिर बनवाया। मैं भी उस गाँव

मे पहुँच गया। मैं ने अहिंसा के विषय पर भाषण दिया और हिंसा के फल का विवेचन किया। भाषण सुनकर वह पुलिस इस्पैक्टर प्रकपित हो उठा।

उसके बनवाये हुए मन्दिर की प्रतिष्ठा के समय अन्य सब लोग तो उपस्थित रहे, मगर जैन लोग उसमे सम्मिलित नही हुए। उन्होने सोचा कि—यह मन्दिर काली देवी का है और काली मैया प्रतिदिन बकरो का भोग माँगेगी। इस मन्दिर की प्रतिष्ठा मे सम्मिलित होना हिंसा की अनुमोदना करना है। यह सोच कर वे शामिल न हुए। मगर वह राजकीय पदाधिकारी था और फिर पुलिस का इस्पैक्टर। उसमे बडा जोष था। पर मेरा व्याख्यान सुनकर उसका भी दिल पिघल गया। उसने खडे होकर आजीवन के लिए मास-मदिरा का परित्याग कर दिया।

मैंने उसे समझाया—

प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।

जैसे तुम्हे अपने प्राण प्यारे हैं, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी को, चाहे वह छोटा हो या बडा, बोल सकता हो अथवा न बोल सकता हो, अपने-अपने प्राण प्यारे लगते हैं।

यह सुनकर उसने मन्दिर मे हिंसा न करने की प्रतिज्ञा ग्रहण की। उसने मन्दिर मे शिलालेख लगा दिया कि इस मन्दिर मे आगे को प्राणिवध नही होगा।

तो अभिप्राय यह है कि मरने से सभी को भय होता है। कोई भी प्राणी मरना नही चाहता—

सव्वे पाणा वि इच्छति,
जीविउ न मरिज्जिउ।

दु खी से दु खी प्राणी भी जीवित ही रहना चाहता है। कोई मरना नही चाहता।

जिसे थोडा-सा भी विवेक प्राप्त है, वह जीवो के प्राणो का हरण करना पाप समझेगा। यही नही, वह उन पर अनुकम्पा भी करेगा। 'अनुकम्पनमनुकम्पा।' अर्थात् जिस प्रकार जीवो को साता उपजे, उनका दु ख दूर हो, उनकी अशान्ति मिटे, उनका आर्तध्यान कम हो, उस प्रकार चेष्टा करना, क्रिया करना अनुकम्पा है। जीवो को अनुकूल क्रिया करके शान्ति-समाधि पहुंचाना अनुकम्पा का अर्थ है।

धर्माचरण मे अनुकम्पा का स्थान बहुत ऊँचा है। अनुकम्पा से ही आचार धर्म के अकुर फूटते हैं और पनपते है। अन्त करण मे अनुकम्पा होगी तो अन्यान्य धर्म भी हो सकेंगे। अनुकम्पा के अभाव मे कोई भी धर्म नही टिक सकता। जिसके हृदय मे जीवानुकम्पा नही, वह कोई भी पाप का कार्य कर सकता है। वह हत्या करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, दूसरो को लूटता है, पडौसी के घर मे आग लगा देता है, रेल की पटडी उखाड कर गाडी को उलट देने का प्रयत्न करता है। कोई भी भयकर से भयकर पापाचार वह निस्सकोच भाव से कर डालता है। जब मनुष्य की ऐसी मानसिक स्थिति हो तो आप समझ सकते हैं कि वह धर्म का विचार भी कैसे करेगा?

तो अनुकम्पा के द्वारा ही चित्त मे कोमलता आती है। बीज बोने से पहले खेत को कई बार जोत कर मुलायम कर लिया जाता है। अगर वह मुलायम न हो, खेत की धरती कठोर बनी रहे तो बीज उसमे उग नही सकता। इसी प्रकार अनुकम्पा से कोमल बने हुए

चित्त मे ही धर्म के बीज पनप सकते है । भारत के प्राचीन ऋषि, चाहे वह जैन हो या जैनेतर, सभी ने अनुकम्पा—दया को धर्म का मूल स्वीकार किया है और भारतवर्ष के अपढ लोग भी बोला करते हैं —

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान ।
'तुलसी' दया न छाडिये जब तक घट मे प्रान ।।

दया धर्म का मूल है । जैसे मूल के सहारे ही वृक्ष टिक सकता है और मूल के उखड जाने पर वृक्ष धराशायी हो जाता है, उसी प्रकार धर्म भी दया के आधार पर टिकता है, दया के अभाव मे नही । अतएव मनुष्य का यह पवित्र कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन के अन्तिम श्वास तक दयाधर्म का पालन करे ।

सस्कृत भाषा के एक विद्वान् ने कहा है—

न सा दीक्षा न सा भिक्षा, न तद्दान न तत्तप ।
न तद् ध्यान न तन्मौन, दया यत्र न विद्यते ।।

जहाँ दया नही वहाँ सब धर्माचरण व्यर्थ है । दया के अभाव मे दीक्षा दीक्षा नही, भिक्षा भिक्षा नही, दान दान नही, ध्यान ध्यान नही और मौन मौन नही । यह सब आडम्बर है, दिखावा नही है ।

दया का स्वरूप और क्षेत्र अत्यन्त विराट् है । वह लोकोत्तर धर्म भी है और लौकिक धर्म भी है । दया वह धर्म है जिससे इह लोक और परलोक, दोनो सफल होते है । दया के विना समाज भी नही टिकता । मनुष्य पारस्परिक सहानुभूति रखते है, दु खदर्द के समय एक दूसरे के सहायक होते है, सकट के समय अवलवन और आश्वासन देते है । इन्ही आधारो पर समाज चलता है । यह सब अनुकम्पा के ही विविध रूप हैं ।

थोडी देर के लिए ऐसे ससार की कल्पना कीजिए जहाँ किसी भी मनुष्य के अन्तःकरण मे लेश मात्र भी अनुकम्पा न हो। माता-पिता सन्तति के प्रति और सन्तति को माता-पिता के प्रति तनिक भी दया न हो तो दुनिया की क्या दशा हो ? पडौसी के घर मे आग लगी है और बाहर से द्वार बन्द है। अन्दर के मनुष्य आग मे भस्म हो जाने की तैयारी मे है और वे बाहर निकलने के लिए पुकार रहे है, चीख रहे है, मगर पडौसी यदि उनके मकान का द्वार नही खोलता और सोचता है कि—'मर रहे हैं तो भले मरें, जल रहे हैं तो भले जलें, अपने कर्म का फल भोग रहे हैं। कर्मों का कर्जा चुका रहे हैं। हम बीच मे दस्तन्दाजी क्यो करें ? ये लोग मौत से बच जाएगे तो जिन्दा रह कर नाना प्रकार के पाप कर्म करेंगे, बचाने के कारण हमे भी उनके पापो के फल का भागी होना पडेगा।' और इस प्रकार विचार करके वह दया नही दिखलाता और उन्हे आग मे भुन जाने देता है तो आप उसे धर्मनिष्ठा का प्रमाणपत्र देंगे या निष्ठुरता का ? उसे देवता समझेंगे या राक्षस ? क्या इस प्रकार के निर्दय, निष्ठुर और विवेकविहीन विचारो से जगत् मे शान्ति हो सकती है ? कदापि नही। यह तो दया देवी का ही प्रताप है कि दुनिया मे थोडी-बहुत शान्ति दृष्टिगोचर होती है।

जिन्हे हम निर्दय और हिंसक के रूप मे पहिचानते है, उन प्राणियो मे भी दया का किंचित् अस्तित्व होता ही है। दया प्रकृति का सिद्धान्त है और उसका शासन सर्वत्र है। ऐसी स्थिति मे अगर कोई सम्प्रदाय या पन्थ दया का निषेध करता है तो समझना चाहिए कि वह धर्म के मूल को उखाड कर फेक देना चाहता है और मनुष्य के कलेजे को पत्थर का बनाना चाहता है। वह समाज का घात करता है और मानव जाति के कल्याण के मार्ग मे शूल बिखेरता है।

यही कारण है कि भगवान् ने अनुकम्पा को उच्च स्थान दिया है। मगर अनुकम्पा का वह उच्च स्थान कहाँ है ?

'हृदय मे।'

ठीक है, पर इस भाव को अन्दर ही रहने दोगे या व्यवहार मे भी लाओगे ?

हमारा पडौसी सम्प्रदाय कहता है—'मरने वाला मरता है तो हमे क्या मतलब ! दया तो हृदय मे है। न कसाई मे है, न मरने वाले मे। हमारी दया ऐसी कमजोर नही जो कसाई की छुरी से कट सके।'

उनके कथनानुसार दवा शीशी मे है या पुडिया मे है। वह उसी मे रही हुई अपना असर दिखला देगी। मगर कभी ऐसा हुआ है ? जबतक दवा का सेवन न किया जायगा तबतक उससे लाभ नही हो सकता। दवा शीशी मे भरी रहने के लिए नही है। वह बीमार के सेवन करने के लिए है। दवा को शीशी मे से निकाल कर रोगी को देना होगा और तभी वह काम की होगी। दया हृदय मे है सो ठीक है, मगर अवसर आने पर वह काम मे आनी चाहिए।

कहने वाले कहते है—हमारी दया रूपी निधि हमारे पास है। परन्तु वह दया जबतक बाहर नही आती तबतक तीन कौडी की भी नही है। दवा बोतल मे पडी-पडी सड जाएगी यदि उसका उपयोग न किया गया।

तो धन वही है और तन वही है जो कार्यकारी हो—काम मे आता हो। जो उपयोग मे नही आता वह किस काम का ? उसका होना न होने के समान है। इसी प्रकार जो दया दीन-दुखियो का दुख-दर्द दूर करने मे काम आती है वही सच्ची दया है।

कितने आश्चर्य की बात है कि जिस दया को मुसलमान भी धर्म मानते हैं और जिसके बिना जगत् नरक बन सकता है, उसी का हमारे भाई लोग निषेध करते हैं और मरते हुए प्राणियो की रक्षा करने में अधर्म—पाप कहते हैं !

जैनधर्म दयामय धर्म है। वह इस प्रकार की अहितकर और पापमय मान्यताओ का समर्थन नही करता। यही कारण है कि अनुकम्पा को सम्यक्त्व के लक्षणो मे परिगणित किया गया है। जिसमे सम्यक्त्व है उसमे अनुकम्पा अवश्यमेव होनी चाहिए। अनुकम्पा नही है तो सम्यक्त्व भी नही है। सम्यग्दृष्टि जीव दुखी के दु ख को दूर करने मे कदापि पाप नही समझेगा, मरते हुए प्राणी की रक्षा करने मे हर्गिज़ पाप नही मानेगा। मिथ्यादृष्टि भी दयावान् हो सकता है पर सम्यग्दृष्टि दयाविहीन नही हो सकता।

सम्यक्त्व के पाँच लक्षण है—शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था। सम्यक्त्व उत्पन्न होने पर यह पाँच लक्षण अवश्य उत्पन्न हो जाते है।

सम्यक्त्व की पहचान इन्ही लक्षणो से होती है। वह कोई काली पीली या धौली दिखाई देने वाली वस्तु नही है। गूँगा मिष्टान्न खाता है और उसकी मधुरता का आस्वादन भी करता है, परन्तु उसे व्यक्त नही कर सकता। उसका आनन्द चखने वाला ही जानता है। दूसरे लोग तो गूँगे की शक्ल देखकर उसके आनन्दानुभव का अनुमान ही कर सकते हैं। इसी प्रकार हम किसी के मनोभावो को प्रत्यक्ष से नही जान सकते, तथापि लेख और वचन आदि से अन्दर के भाव प्रकट हो सकते है। हड्डियो की खराबी एक्स-रे से ही मालूम होती है, देखने मात्र से नही। हृदयस्थ मन्तव्य चेष्टाओ से व्यक्त होते है।

मनुष्य का दु ख किसी न किसी प्रकार व्यक्त हो ही जाता है। आँसू अन्तर्निहित वेदना को व्यक्त कर देते हैं। आँसू भी दो प्रकार के होते हैं—दु ख के और सुख के। पूर्वकृत पापो का स्मरण करने से जो आँसू आते हैं, उनका मूल्य मोतियो से अधिक है। शास्त्रकारो ने अश्रुपात को आर्त्तध्यान का लक्षण बतलाया है पर वे आँसू और हैं। पाप का नाश करने के लिए गिराये गये आँसू लाभजनक है। ऐसे आँसू इतने अधिक निकालो कि अन्तरतर की पाप की कालिमा धुल जाय।

मगर इस प्रकार के आँसू तो किसी विशिष्ट भव्यात्मा के ही नेत्रो से निकल सकते हैं। अधिकाँश लोगो की आँखो से तो वही आँसू निकलते है जिन्हे शास्त्रकारो ने आर्त्तध्यान मे गिना है। वे मोह और शोक के कारण निकलते हैं और असातावेदनीय कर्म के बन्ध के कारण होते हैं।

जो जन्मा है वह अवश्य मरेगा, यह अनादि काल को रीति है। अगर किसी का कोई आत्मीय मर गया है और सेवा करते-करते मरा है तो उसके कुटुम्बियो को धैर्य रखना चाहिए। सेवा करके उन्होंने अपने कर्त्तव्य का पालन किया और जिस सीमा तक जो उपाय शक्य था, वह सब कुछ किया। यही धैर्य और सान्त्वना के लिए पर्याप्त आधार है। कोई किसी को मरने से तो बचा नही सकता और न अपनी आयु का कुछ अश दूसरे को दे ही सकता है।

यदि अपनी थोडी सी आयु हम औरो को देवे,
तो कुछ काल उन्हे दुनिया मे हम जीवित रख लेवें।
किन्तु आयु का देना-लेना कब किसने देखा है ?
आयु कर्म की हे अज्ञानी ! यह प्रबल अमिट रेखा है ॥

जब ससार की ऐसी स्थिति है तो किसी के मरने पर रोने से क्या लाभ है ? कोई कितना ही रोये, मृतक व्यक्ति लौट कर नही आ सकता। फिर भी कई अज्ञानी लोग मृतक के पीछे दो-चार वर्ष तक रोते रहते हैं। इस प्रकार रुदन करने से कुछ लाभ नही, बल्कि कर्मो का चिकना बध होता है।

बहुत बार तो लोकरीति के लिए रोया जाता है। लोग भी इतने अज्ञान हैं कि कोई अगर रुदन न करे तो उसकी कटु आलोचना करते हैं। इस मूर्खता की कोई सीमा नही। यह अशिक्षा और असस्कृति का ही नतीजा है। इसके कारण नाइन छाती कूटने की कला सिखलाती है। इस सम्बन्ध मे क्या कहा जाय !

इसमे सन्देह नही कि आत्मीय जनो का वियोग दुख और सताप उत्पन्न करता है। मगर उसके लिए रिवाज के तौर पर रोना और दभ करना अत्यन्त अवाछनीय है। ऐसे अवसर पर विशेप रूप से धर्म का आचरण करना चाहिए और वैराग्य को प्रोत्साहन देने वाले ग्रथो का स्वाध्याय करना चाहिए ताकि मन को धैर्य मिले और शोक-सन्ताप दूर हो, मगर लोग इसके विपरीत आचरण करते हैं। धर्मक्रिया करना छोड देते हैं पर व्यापार-धधा और खाना पीना चालू रखते है। विचार तो इस प्रकार करना चाहिए—

जो जन्मा सो आया मरण मे सभी मौत का भोग,
आया ही को मरना होगा किस का करिए सोग।
काया हो आई पावणी तेरा हस वटेऊ लोग॥

सज्जनो ! जिसने शरीर को ग्रहण किया है वह शरीर का त्याग भी अवश्य करेगा। भूचर, खेचर, योगी, भोगी, रोगी, नीरोगी राजा, रक, ब्राह्मण चाडाल, सब को एक दिन मौत का आलिगन

करना ही है। सब काल के भक्ष्य है। काल का पेट भरा नही और भरने वाला भी नही। काल की भूख सदैव ताजा रहती है

पुरन्दरसहस्राणि चक्रवर्त्तिशतानि च।
निर्वापितानि कालेन प्रदीपा इव वायुना॥

वायु का एक झोका लगते ही जैसे टिमटिमाता हुआ दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार काल के एक ही झपट्टे मे इन्द्र और चक्रवर्त्ती भी समाप्त हो जाते हैं।

इन्द्र देवो के राजा होते हैं। चक्रवर्त्ती मनुष्यो के सबसे बडे राजा है। उनका ऐश्वर्य असाधारण और सामर्थ्य भी अनुपम होता है। परन्तु काल के जाल मे पडने पर उनकी भी रक्षा नही हो सकती। ऐसी स्थिति मे साधारण मनुष्यो का तो कहना ही क्या है?

सिकन्दर बादशाह की मृत्यु हुई तो उसकी माता कब्र पर जा कर रोने लगी और अपने बेटे के लिए विलाप करने लगी। शोक की प्रबलता से उसके चित्त मे उन्माद उत्पन्न हो गया।

उन्माद दो कारणो से उत्पन्न होता है—यक्ष-भूत आदि के आवेश मे और मोह के आवेश से। यक्षोन्माद तो अल्पकाल मे ही दूर हो सकता है, परन्तु मोहोन्माद बडा ही भयकर है। यह अनादि काल से जीव को पागल बनाये हुए है। इसके प्रभाव से जीव विवेक-हीन हो रहा है। उसे अपने आप का भी भान नही है। पागलो की भाँति नाना प्रकार की चेष्टाएँ करता है। यह उन्माद ज्ञानियो की ही दृष्टि मे आता है और बडी कठिनाई से दूर होता है। इसमे मत्र, तत्र, गडा और तावीज कुछ भी काम नही आते।

हाँ, तो सिकन्दर की माता फूट-फूट कर रोने लगी। तब आकाशवाणी हुई कि—ऐ वृद्धा, तू किसे बुलाती है?

बुढिया ने कहा—मैं अपने सिकन्दर को बुला रही हूँ।

आकाशवाणी ने कहा—अब तेरे सिकन्दर का क्या पता! यहाँ हजारो सिकन्दर हो चुके है और मिट्टी मे मिल चुके हैं। तू क्यो पगली बन रही है। जो जन्मा है सो मरेगा। तुझे भी एक दिन मरना होगा—

एक आवन्दा एक जावन्दा तेरा मेरा सच।
तेरा कागज बच गया मेरा कागज हथ।

यह अनादि का सिलसिला है। धन्वन्तरि जैसे वैद्य भी मर गये। वडे वडे नामी डाक्टर भी कूच कर गये। कोई नही बचा, न बचेगा।

जब मृत्यु प्रकृति का अनिवार्य विधान है तो उसके आने पर इस प्रकार पागल हो जाना उचित नही।

पंजाब मे मैंने इस विषय मे प्रचार करके तीन दिन से अधिक तपड न रखने का नियम करवाया है और सुबह-शाम न रोने की भी प्रतिज्ञाएँ करवाई हैं।

जिस परिवार मे मृत्यु हो जाती है, वहाँ दूसरे घरो की महिलाएँ मुकान करने—शान्ति देने के लिए आती है। प्रथा का मूल उद्देश्य तो बडा अच्छा है परन्तु हो रहा है कुछ और ही। वे आकर और अधिक रुलाती है। आने वाली स्त्रियाँ अपना पेट तो पहले ही भर कर आती है और साथ मे कुछ खाने को लेकर आती हैं। जब घर निकट आता है तो चिल्लाने लगतीहैं। खतरे की घटी की तरह या अलार्म की तरह सूचना देती हैं। स्वय रोती या रोने का दिखावा करती हैं और जिनके घर जाती है उन्हे रुलाती है। घूघट मे मुह छिपा रहता है, अतएव आसू तो दिखते नही, कई यो ही चिल्लाती रहती हैं।

पजाव के एक गाँव का किस्सा है । एक नई बहू रोने के लिए गई । गुरु महाराज ने उससे पूछा– आज व्याख्यान सुनने क्यो नही आई ? तब उसने कहा—महाराज, आज रोने गई थी ।

महाराज –सचमुच रोना आया ?

बहू—नही तो ।

महाराज—तो फिर क्यो गई ?

बहू—मैं तो रोना सीखने गई थी ।

नई बहुएँ रोने मे कम विश्वास करती हैं, परन्तु ये बुढियाएँ अपनी लकीर नही छोडती ।

जैनधर्म जैसे अध्यात्मप्रधान धर्म को पाकर आपको तात्त्विक दृष्टि ये विचार करना चाहिए और अहितकर रूढियो को बिना सोचे-समझे नही निभाना चाहिए । जातीय तौर पर आपको मर्यादा बाँधनी चाहिए कि इतने दिन से अधिक न रोएंगे, उन दिनो मे भी अमुक समय नही रोएंगे और रुलाने के लिए किसी के घर नही जाएँगे, सान्त्वना और धीरज देने के लिए ही जाएँगे ।

आर्त्तध्यान का फल बडा ही कटुक होता है । यह पापबध का कारण है । इससे जितना अधिक बचोगे उतना ही आपका कल्याण होगा । आर्त्तध्यान से बचते हुए भी शोकसन्तप्त जनो को सान्त्वना दी जा सकती है । सान्त्वना देने का निषेध नही है, सहानुभूति प्रकट करने का विरोध नही है और बीमारी की स्थिति मे किसी की सेवा करने मे पाप नही है ।

कई लोग कहते हैं—'मरते को बचाना एकान्त पाप है । भगवान् महावीर ने अपने दो शिष्यो को नही बचाया ।' ऐसा कहने

वाले उन बेचारो को पता नही कि भगवान् अतिशयज्ञानी थे और उन्हे मालूम था कि इन साधुओ की आयु इसी प्रकार समाप्त होने वाली है। फिर भी भगवान् ने व्यवहार साधने के लिए अपने सब साधुओ को हिदायत कर दी थी कि गोशाला आने वाला है। वह ऐसा व्यवहार करेगा जिससे तुम लोगो के चित्त मे क्षोभ हो पर सब मौन धारण करके रहना। कोई बोलना मत। प्रतिवाद करने की आवश्यकता नही है।

इस प्रकार भगवान् भविष्य के वेत्ता थे। उनकी देखादेखी करने वालो को चाहिए कि पहले उनके समान ज्ञानी तो बन लें। कीडी हाथी की होड करने चलेगी तो उसका कही ठिकाना न लगेगा।

एक दुराचारिणी स्त्री से किसी सुशीला ने कहा—बिना कारण पराये घर जाना स्त्री को ठीक नही है। इससे कुल की कीर्त्ति कलंकित होती है और आत्मा का अध पतन होता है। नारी जाति की प्रतिष्ठा को धब्बा लगता है।

यह हित-उपदेश सुनकर उसने तमक कर कहा—सीता भी तो रावण के घर रही थी! जब उसको गिनती सतियो मे की गई है तो मेरे जाने मे क्या हर्ज है?

धन्य है ऐसी भद्रा, जो सीता का उदाहरण देकर अपने पाप को धोना चाहती है! बात करते हैं महावीर की और यह जानते ही नही कि वे अपने विशिष्ट ज्ञान मे भविष्य को देख रहे थे।

तारीफ तो यह है कि भगवान् महावीर का अनुकरण करने वाले इन लोगो के सामने जब भगवान् के द्वारा गोशालक की रक्षा करने का उदाहरण पेश किया जाता है तो चट कह देते हैं कि—भगवान् भूल गये। ऐसे भक्तो को क्या कह कर समझाया जाय जो

अपने उपास्य देव को भी भूला हुआ समझते है। भगवान् भूल सकते हैं परन्तु यह नही भूल सकते।

भगवान् महावीर ने ही अनुकम्पा का मार्ग बतलाया है। आज जगत् मे जो करुणाभाव है वह भगवान् जैसे महापुरुषो के उपदेश का ही असर है। जैनधर्म के अनुयायी आज जो मास-मदिरा के सेवन के पाप से बचे हुए है, यह भगवान् महावीर की ही महान् देन है, उन्ही का असीम उपकार है। उन्ही की शिष्य परपरा द्वारा हिंसा निषेध का प्रचार करने से पजाब जैसे प्रान्त मे भी जैन लोग इस विषय मे दृढ है।

भगवान् न होते तो न जाने ससार की क्या दशा हुई होती। जिस समय भगवान् महावीर तीर्थंकर के रूप मे इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए तो भारत की स्थिति अत्यन्त विषम थी। हिंसा का त्रास बेहद बढ गया था। गाय और घोडा जैसे पशुओ को गाजर-मूली से भी सस्ता समझा जाता था। धधकती हुई आग की ज्वालाओ मे उन्हे झोक दिया जाता था। यही तक यह कुप्रथा सीमित नही थी, मनुष्यो तक की बलि दे दी जाती थी और नरमेध यज्ञ किये जाते थे।

भारत की जनता नाना प्रकार की मूढताओ मे फँसी हुई थी। तरह-तरह के वहम जीवन को विषम बना रहे थे। आध्यात्मिकता पर पर्दा पड गया था और बहिर्मुखता का बोलबाला था। ऊपरी क्रियाकाण्ड मे ही धर्म माना जा रहा था। ऐसे समय मे भगवान् ने साधना के द्वारा सर्वज्ञता प्राप्त करके विश्व को एक नूतन पथ प्रदर्शित किया। प्रभु ने अहिंसा को आचारधर्म की कसौटी मान कर आत्मसयम, आत्मदमन का उपदेश दिया और स्पष्ट निर्घोष किया कि ससार मे मनुष्य ही जीव नही हैं, एकेन्द्रिय भी जीव हैं, द्वीन्द्रिय

आदि भी जीव है और पशु-पक्षियो मे भी मनुष्यो जैसी आत्मा विद्यमान है। मनुष्य शक्तिशाली है तो इसलिए कि वह इन असमर्थ और असहाय जीवो की उसी प्रकार रक्षा करे जैसे बडा भाई अपने छोटे भाई की रक्षा करता है या बाप बेटे की रक्षा करता है। बडे का बडप्पन छोटे को निगल जाने मे नही, उसका जीवन-सहायक होने मे है।

बडे के द्वारा छोटो को सताया जाना मत्स्यगलागल न्याय है। अगर यह अन्यायपूर्ण न्याय जगत् मे लागू कर दिया जायेगा तो जगत् की स्थिति अत्यन्त विषम ही नही, भयकर हो जाएगी। प्रत्येक सबल निर्बल को सताएगा तो इसी धरती पर नरक आ जाएगा। ससार मे शान्ति और सुरक्षा का आधार अहिंसा है, पारस्परिक रक्षा और सहानुभूति है। इन्ही दिव्य भावनाओ के सहारे प्रत्येक का जीवन शान्ति के साथ निभ सकता है।

यह भगवान् के उपदेश का सार था। उनके प्रभावशाली उपदेशो ने जादू का असर किया और जनता का मानस बदल दिया। हिंसक यज्ञो का यक्ष हो गया और लोगो ने करुणा का सबक सीख लिया। बाह्याडम्बर के बदले सच्ची धार्मिकता का भाव उदित हुआ। इस प्रकार भगवान् महावीर स्वामी ने विश्व को नूतन प्रकाश देकर जो महदुपकार किया है, उसे युग-युग तक विस्मरण नही किया जा सकता।

अहिंसा के पक्ष मे सबसे अधिक सबल युक्ति यही है कि प्राणी-मात्र को जीवन प्रिय और मरण अप्रिय है। डकैतो के द्वारा बाँधा हुआ वह पथिक मृत्यु की कल्पना मात्र से अत्यन्त त्रस्त और भीत हो रहा था। तब उस दयालु पुरुष ने उसे मृदु स्वर मे कहा—भाई,

डरो मत। मैं तुम्हे सकट से बचाने आया हूँ, भय से मुक्त करने के लिए आया हूँ।

इस प्रकार वह दयालु पुरुष हृदय मे ही अनुकम्पा रख कर नही रह गया, बल्कि उसने उसकी आँखो को पट्टी खोली। वह चक्षुदाता (चक्खुदयाण) बन गया। उसे बधन मुक्त करके मोचक (मोयगाण) बना। तत्पश्चात् उसे घर जाने का मार्ग बतलाया (मग्ग-दयाण)। दयाधर्म की सीधी सडक बतलाई। मार्ग मे फिर चोर न मिल जायँ, यह सोचकर उसके साथ चार मनुष्य कर दिये, अर्थात् अरिहत, सिद्ध, साधु और धर्म रूप चार शरण दिये। खाने के लिए पाथेय दिया (जीवदयाण)। उसे बोध दिया कि चोरो-डकैतो से बच कर रहना चाहिए (वोहिदयाण)।

ऐसे परमदयालु हैं हमारे तीर्थंकर भगवान्। उनके जितने गुण गाए जाएँ, थोडे है। जो तीर्थंकर भगवान् के गुण गाते हैं वे भवसागर से पार हो जाते है।

राजकोट,
१३—८—५४

आत्मवादी की कामना

महावीर स्वामी मैं क्या चाहता हूँ—

फकत आपका आसरा चाहता हूँ।

मिली तुमको पदवी जो निर्वाण पद की

कि तुम जैसा मैं भी हुआ चाहता हूँ।

बता दू तुम्हे कि मैं क्या चाहता हूँ,

मैं सारे जहाँ का भला चाहता हूँ॥

सज्जनो और धर्म बहिनो!

एक भगवद् भक्त भव्य जीव भगवान् महावीर से विनम्रता-पूर्ण विनती करता है, अपनी मनोभावनाएँ निवेदन करता है, अपने आन्तरिक भावो की अभिव्यजना करता हुआ प्रार्थना करता है—भगवन्, महावीर स्वामिन्! मेरी एक मात्र यही अभिलाषा है कि मुझे आपका अवलम्बन मिले। मैं इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही चाहता। ससार मे अनन्त प्राणो है, अनन्त पदार्थ हैं और अनन्त उनकी आकाक्षाएँ हैं। मगर मेरी एकमात्र आकाक्षा प्रभु का आश्रय प्राप्त करने की है।

भगवान् का अवलम्बन पा लिया तो सभी कुछ पा लिया और भगवान् का अवलम्बन न पाया तो दुनिया का सब कुछ पाकर भी कुछ नही पाया।

प्रश्न हो सकता है कि भगवान् का आश्रय कैसे पाया जाय? इसका उत्तर यही है कि जब आपके चित्त मे पूरी श्रद्धा और निष्ठा

हो जाएगी कि ससार के पदार्थ आत्मा का त्राण करने मे समर्थ नही है, धन, जन, सेना, महल, मकान आदि दुनिया का वैभव अन्तत व्यर्थ सिद्ध होता है, और इस प्रकार की दृढ निष्ठा होने पर आप उनका भरोसा छोड देंगे और भगवान् पर ही पूर्ण भरोसा करने लगेंगे, तभी भगवान् का आसरा आपको प्राप्त होगा । जबतक आपके अन्त करण मे भौतिक पदार्थों सम्बन्धी प्रीति विद्यमान है तब तक समझना चाहिए कि भगवान् के प्रति एकनिष्ठ प्रीति उत्पन्न नही हुई है और जबतक एकनिष्ठ प्रीति स्थापित नही हुई है, तब तक आप भगवान् का आश्रय पाने मे समथ नही हो सकते।

यद्यपि भगवान् आपका हाथ पकडने के लिए नही आते, फिर भी उनके नाम-भजन मे ऐसी अपूव शक्ति है कि उससे मनुष्य के समस्त सकट दूर हो जाते हैं। अमरकुमार लपलपाती हुई आग की ज्वालाओ मे से कैसे सकुशल बच गया ? सती सीता को परीक्षा के लिए बनाया गया आग का कुण्ड कैसे शीतल बन गया ? सुभद्रा कच्चे सूत मे चालनी मे कुए का पानी भरने मे कैसे समर्थ हो गई ? चन्दनबाला का भूगृह से कैसे उद्धार हो सका ? इन सब साक्षियो से स्पष्ट है कि जहाँ दुनियावी शक्ति असफल हो जाती है वहाँ भागवती शक्ति अद्भुत चमत्कार दिखला सकती है।

भगवान् का नाम नौका के समान है। ससार सागर मे गोता खाने वाले जीव उस नाम नौका का अवलम्बन करके किनारे लग जाते हैं।

साधक के सामने जब विकट परिस्थिति उत्पन्न होती है, उसके अन्तर के विकार उसे मार्ग से च्युत करने के लिए जोर लगाते हैं, उस समय वीतराग परमात्मा का स्मरण चिन्तन उन्हे विकार विजय की शक्ति प्रदान करता है।

इसी कारण भक्त कहता है—भगवन् ! मुझे किसी भी अन्य पदार्थ की कामना नही है, सिर्फ आपका आसरा चाहिए। और आपका आसरा इसलिए नही चाहता कि मुझे ससार के भोग्य-उपभोग्य पदार्थ मिल जाएँ, बल्कि मैं निर्वाणपद प्राप्त करना चाहता हूँ।

इसके पश्चात् भक्त ने अपनी अभिलाषा प्रकट करते हुए कहा है —

मैं सारे जहाँ का भला चाहता हूँ।

इस विचार मे उदारता की पराकाष्ठा है और क्षुद्र भाव के परित्याग की प्रेरणा समाई हुई है। जिसका अन्त करण प्राणी मात्र के कल्याण की कामना से पूत होता है, वही अपना कल्याण कर सकता है।

ससार के सभी प्राणी अपनी-अपनी आकाक्षाओ को लिए हुए है। सब की रुचि और मति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। जिसे जिस वस्तु की इच्छा है, उसकी लगन उसी तरफ लगी रहती है, चाहे वह वस्तु श्रेष्ठ हो या निकृष्ट हो। जो जैसे वातावरण मे रहता है, उसकी रुचि वैसी ही बन जाती है।

आत्मा मे निकृष्टता या श्रेष्ठता का भेद नही है। मूल मे सब आत्माएँ समान हैं, परन्तु विकार या कर्म के सयोग से उनमे अन्तर पडता है। जिसके शुभ कर्म का उदय है, उसका वर्त्ताव श्रेष्ठ होता है और उससे स्वय उसे तो सुख मिलता ही है, साथ ही समाज या सघ को भी सुख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार का व्यवहार करने मे वह आत्मा श्रेष्ठ कहलाता है।

इसके विपरीत जिस कार्य का परिणाम किसी को भी सुखद न हो बल्कि सभी को दु खदायी हो, वह निकृष्ट कार्य कहलाता है।

सभी आत्माएँ समान होने पर भी सस्कारवश उनमे भेद हो जाता है। जैनसिद्धान्त मे विभिन्न आधारो से आत्मा के अलग-अलग प्रकार से भेद किये गये है। एक अपेक्षा से आठ भेद हैं तो सग्रहनय की अपेक्षा से या चैतन्य धर्म को समानता से आत्मा एक भी है। श्रीढाणागसूत्र मे प्रथम स्थानक मे कहा है —

एगे आया।

अर्थात्—आत्मा एक है।

इस समग्र विश्व मे छ द्रव्य है। इन्ही छ द्रव्यो का पसारा यह ससार सृष्टि है। इनमे आत्मा एक है, जो चेतनामय है और शेष पाँच अचेतन द्रव्य है।

सूत्र का आशय यह है कि अनन्तानन्त आत्म व्यक्तियो मे चैतन्य धर्म समान रूप से विद्यमान है, अतएव चैतन्य की दृष्टि से उनमे भेद नही होता। आत्मा का एकत्व द्रव्य रूप से है। गुण रूप से भी आत्माओ मे पार्थक्य नही है, क्योकि जो ज्ञान-दर्शन आदि गुण एक आत्मा मे है वही सब मे हैं। फिर भी व्यक्ति की अपेक्षा से विचार किया जाय तो आत्माएँ अनन्त हैं। आत्मा सम्बन्धी व्यक्ति-भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है।

भारत मे एक ऐसी विचारधारा भी प्रचलित है जिसके अनुसार आत्मा एकान्त रूप से एक ही है। परन्तु इस विचारधारा पर जब गभीर विचार किया जाता है तो वह सदोष सिद्ध होती है।

आत्मा का सर्वथा एकत्व स्वीकार किया जाय तो ससार के समस्त व्यवहार असगत हो जाते है। प्रत्यक्ष देखते हैं कि सब के सुख

दु ख आदि भिन्न-भिन्न हैं। जिस समय एक व्यक्ति अत्यन्त दु खी होता है, उसी समय दूसरे व्यक्ति सुख मे मग्न रहते है। एक दुस्सह वेदना से छटफटाता है तो सब को उस वेदना की अनुभूति नही होती। जैसे शरीर के एक अङ्ग मे वेदना होने पर समस्त अङ्ग उससे अभिभूत हो जाते हैं, क्योकि एक शरीर मे एक आत्मा है, उसी प्रकार अगर समस्त शरीरो मे भी एक ही आत्मा मानी जाय तो एक शरीर मे सुख-दु ख की उत्पत्ति होने पर सभी शरीरो मे होनी चाहिए। एक ही साथ सब सुखी और सब दु खी होने चाहिएँ। एक रोगी हो तो सब रोगी होने चाहिएं और एक को आरोग्यलाभ होने पर सब को आरोग्यलाभ हो जाना चाहिए। एक को मृत्यु से सब की मृत्यु और एक के जन्म से सब का जन्म होना चाहिए।

अगर आत्मा एक ही है तो बद्ध और मुक्त का भेद क्या है ? ज्ञानी-अज्ञानी के भेद का क्या कारण है ? स्त्री पुरुष का भेद क्यो है ?

तात्पर्य यह है कि यदि आत्मा को सर्वथा एक मान लिया जाता है तो ससार की सारो व्यवस्था लुप्त हो जाती है। सब प्रकार की मर्यादाएँ भङ्ग हो जातो हैं। अतएव यही मानना उचित है कि व्यक्ति की अपेक्षा से आत्माएँ अनन्त है और सामान्य को अपेक्षा से एक है। यह सिद्धान्त प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है।

जो तथ्य प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, उसे प्रमाणित करने के लिए किसो अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही होतो। जो वस्तु प्रत्यक्ष से सिद्ध न हो सकती हो, उसके लिए अन्य प्रमाणो की आवश्यकता होती है। आगम मे चार प्रमाण बतलाये गये हैं— (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) आगम और (४) उपमान।

'प्रत्यक्ष' शब्द मे 'प्रति' यह उपसर्ग है । 'अक्ष' का अर्थ है इन्द्रिय और आत्मा । जो सम्यक्ज्ञान इन्द्रियो से उत्पन्न होता है अथवा जो इन्द्रियो एव मन की सहायता के बिना ही सीधा आत्मा से उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष कहलाता है ।

शास्त्रो मे प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद किए गए हैं—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष । पाँच इन्द्रियो से भी वस्तु का हस्तरेखा की तरह प्रत्यक्ष हो जाता है । वही इन्द्रियप्रत्यक्ष कहलाता है। इन्द्रियाँ पांच है—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इनसे क्रमश स्पर्श, रस, गध, रूप और शब्द का ज्ञान होता है। इन्द्रियो से वस्तु का चित्र सामने आ जाता है। मैं जो कुछ बोल रहा हूँ, उसे आप स्पष्ट सुन रहे है। इस प्रत्यक्ष मे किसी साक्षी, हेतु या युक्ति की आवश्यकता नही है। किसी को आशका करने की आवश्यकता नही कि मैं वास्तव मे बोल रहा हूँ या नही बोल रहा हूँ, आप सुन रहे है या सुनने का भ्रम हो रहा है, मैं जो बोल रहा हूँ ,वही आप सुन रहे हैं या अन्य कुछ सुन रहे हैं ! जो कुछ कहा और सुना जा रहा है वह प्रत्यक्ष है। इस प्रत्यक्ष की प्रमाणता सिद्ध करने के लिए किसी भी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही है।

साधारण लोग समझते हैं कि सिर्फ आँखो से जो ज्ञान होता है वही प्रत्यक्ष कहलाता है, परन्तु यह समझना भ्रम है। जैसे आंख रूप को ग्रहण करती है, उसी प्रकार शेष चार इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं। हाँ, नेत्र और शेष इन्द्रियो के विषयग्रहण मे अगर अन्तर है तो यही कि नेत्र अपने विषय को स्पर्श किये बिना ही रूप को जान लेता है और शेष इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को स्पर्श करके जानती हैं। मगर सब का विषय ग्रहण प्रत्यक्ष मे ही सम्मिलित है।

स्मरण रखना चाहिए कि इन्द्रियो के द्वारा होने वाला ज्ञान लौकिक प्रत्यक्ष या साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है, वह वास्तविक-पारमार्थिक प्रत्यक्ष नही है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष वह है जो इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना सीधा आत्मा से होता है। इसमे अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान और केवलज्ञान का समावेश होता है। अवधि और मन पर्याय ज्ञान अपूर्ण होने के कारण विकलपारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाते हैं और केवलज्ञान पूर्ण होने के कारण सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष है।

इन्द्रियजन्य ज्ञान सीमित होता है। इन्द्रियो की शक्ति परिमित है—काल से, क्षेत्र से और विषय की दृष्टि से उसकी सीमा है। कोई भी इन्द्रिय भूत और भविष्य काल के पदार्थों का बोध नही करा सकती, सिर्फ वर्त्तमानकालीन पदार्थ को जानती है। आप किसी वस्तु को देखते हैं तो सिर्फ उसके वर्त्तमान रूप-रग को ही देखते हैं। यह नही देख सकते कि भूतकाल मे उसका रूप-रग कैसा था और भविष्य मे कैसा होगा ? यही बात अन्य इन्द्रियो के सम्बन्ध मे भी है।

इन्द्रियो की शक्ति क्षेत्र की दृष्टि से भी परिमित है। वह दूर के पदार्थों को नही जान सकती। चार इन्द्रियाँ तो स्पष्ट विषय को ही ग्रहण करती है, चक्षु-इन्द्रिय की भी एक सीमा है।

विषय की दृष्टि से भी वह सीमित हें। जिस इन्द्रिय का जो विषय पहले वतलाया गया है, वह उसी को जान सकती है, अन्य विषय को जानने मे असमर्थ है। नेत्र से रस, गध, स्पर्श शब्द नही जाने जा सकते, श्रोत्र से रस आदि का ज्ञान नही होता। कोई भी एक इन्द्रिय, दूसरी इन्द्रियो के विषय का वोध कराने मे असमर्थ है।

अगर एक ही कोई इन्द्रिय स्पर्श, रस आदि पाँचो का ज्ञान कराने मे समर्थ होती तो पाँच इन्द्रियो को मानने की आवश्यकता ही न रहती। फिर तो एक ही इन्द्रिय काफी होती। जब एक रुपये से काम चल सकता हो तो पाँच कौन खर्च करेगा ?

जिसके पास जितनी रकम है वह उतनी ही वस्तु खरीद सकता है। इसी प्रकार जिस जीव को जितनी इन्द्रियाँ प्राप्त हैं, वह उतने ही विषयो का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। नाम-कर्म के द्वारा द्रव्येन्द्रियो का निर्माण होता है। कर्म की विचित्रता के प्रभाव से किसी जीव को एक किसी को दो, किसी को तीन, किसी को चार और किसी को पाँच इन्द्रियाँ प्राप्त होती है। वे जीव प्राप्त इन्द्रियो के अनुसार जानते है। अगर एक ही इन्द्रिय सब विषयो को जानती होती तो एकेन्द्रिय और पचेन्द्रिय प्राणी मे कोई अन्तर ही न रहता। जैसे भोजन, पानी और वस्त्र अपना-अपना काम करते हैं, पानी से क्षुधा की निवृत्ति नही होती, वस्त्र से प्यास नही बुझती, उसी प्रकार एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रियो का काम नही लिया जा सकता। किसी भी भौतिक पदार्थ को लीजिए, उससे सब काम नही हो सकते। प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना काम करता है।

कुछ लोग ऐसे अतिप्रत्यक्षवादी है जो सभी विषयो को प्रत्यक्ष मे देखना चाहते हैं और जिसे प्रत्यक्ष से नही देख सकते, उसका अस्तित्व मानने से इन्कार कर देते है। उनके कथनानुसार एकमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है और प्रत्यक्ष मे भी सिर्फ इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण है। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष की सत्ता को वे स्वीकार नही करते। मगर गहराई से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार का आग्रह दुराग्रह मात्र है और बड़ी धृष्टता है।

कितने आश्चर्य की बात है कि ऐसे लोग धर्म को भी आंखो से देखना चाहते हैं। आंखो से देखे बिना आत्मा को, परमात्मा को और धर्म को भी नही मानते। स्वर्ग, नरक आदि को भी स्वीकार नही करते। किन्तु किसी भी पदार्थ का अस्तित्व लोगो की इच्छा पर निर्भर नही है। अगर कोई वस्तु है तो हमारे मानने के कारण नही है, वह अपने-आप से है। हम मानेंगे तो भी होगी और न मानेंगे तब भी होगी। हमारे न मानने से उसका अभाव नही हो जाएगा। अतएव जब स्वर्ग और नरक हैं तो किसी के नट जाने से उनकी नास्ति नही हो सकती। वल्कि सत् पदार्थ को भी असत् मानने के मिथ्यात्व के कारण उन्हे नरक की यातनाएँ सहन करनी पडेगी। तब पता चल जाएगा कि नरक कैसा होता है!

जो नास्तिक है और स्वर्ग-नरक के अस्तित्व पर विश्वास करता है, वह कभी घाटे मे रहने वाला नही। वह नरक से बचने के लिए पापो से दूर रहेगा तो उसका इहजीवन पवित्र और उच्च बनेगा और परलोक मे भी उसे सुख ही मिलेगा। इस प्रकार स्वर्ग-नरक तथा पुण्य-पाप और उनके फल को स्वीकार करने मे ही लाभ है और स्वीकार न करने मे एकान्त हानि ही हानि है।

राजा प्रदेशी भी आत्मा को प्रत्यक्ष देखना चाहता था। आत्मा को देखने के लिए उसने एक आदमी को बीच से लकडी की तरह चिरवाया। दोनो फाडो को गौर से देखा। जब आत्मा दिखाई न दिया तो फिर उसके कई टुकडे करवाए। फिर भी आत्मा न दिखलाई दी। तब उसने समझ लिया कि आत्मा का अस्तित्व नही है। उसने यही घटना केशी स्वामी के सामने तर्क के रूप मे पेश की। मगर केशी स्वामी कहाँ ऐसी पोची दलीलो के झांसे मे आने

वाले थे। वे चार ज्ञानो के धारक महाप्राज्ञ विद्वान् और तार्किक थे। उन्होने उत्तर दिया—राजन्, तुम बडे ही मूढ मालूम होते हो।

इसके पश्चात् उन्होने लकडहारो का एक दृष्टान्त दिया। उसे अरणि नामक काष्ठ मे अग्नि प्रज्वलित करके भोजन बनाना था। पर वह मूर्ख लकडहारा अरणि को उलट-पलट कर उसमे आग देखने लगा। न दीखी तो उसके टुकडे करके देखे। मगर यो आग दिखाई देने वाली नही थी। आखिर एक समझदार आदमी ने आकर विधिपूर्वक काष्ठमथन किया और अग्नि प्रज्वलित हो गई।

तात्पर्य यह है कि जैसे अरणि नामक लकडी मे अग्नि विद्यमान होने पर भी आँखो से दिखाई नही देती, उसी प्रकार शरीर मे आत्मा मौजूद होने पर भी दिखाई नही देती। आग रूपी होने पर भी नही दीखती तो आत्मा के दृष्टिगोचर होने की क्या सभावना हो सकती है, जिसमे रूप ही नही है। इस प्रकार केशी महाराज के समझाने पर राजा प्रदेशी तो समझ गया, मगर आजकल के प्रदेशी, जो इन्द्रियो के पुजारी है, समझना नही चाहते। ऐसे लोगो की धारणा होती है कि –

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो॥

अर्थात् इन्द्रियो के कामभोग तो मुझे प्राप्त है, मेरे अधिकार मे आ चुके हैं, अगले जन्म के सुखो का क्या भरोसा है। कौन जाने अगला जन्म होगा भी या नही होगा! नही होगा तो यह भी जाएँगे और भविष्य वाले तो गये हुए ही है। अतएव इन प्राप्त भोगो को भोग लेना चाहिए, अन्यथा प्रकृति की सृष्टि की अवज्ञा होगी। परमात्मा का अपमान होगा। परमात्मा ने यह कामभोग हमारे भोग के लिए ही बनाए हैं।

इस तरह वे लोग अपना मतलब गाठने के लिए परमात्मा को भी मान लेते हैं। मगर यह पागल जैसा प्रलाप है। जैसा बच्चा पूर्वापर का भान भूल कर अटसट बोलता है, उसी प्रकार वे लोग भी असबद्ध भाषण करते हैं। वे बाल-अज्ञानी जीव हैं। उम्र परिपक्व होने पर भी जिन्हे आत्मा का भान नही है, शास्त्रकार उन्हे बालजीव ही मानते है। वे ज्ञान से बाल है।

अज्ञानी दुनिया के प्राप्त भोगो का लाभ उठाना चाहते हैं। प्राप्त सम्पत्ति और सुख का भोग करना चाहते हैं। प्राप्त को छोड कर अप्राप्त सुख के लिए आयबिल—तपस्या आदि करना किसने सिखलाया! किसने देखा है परलोक! कौन देख कर आया है? न किसी ने वहाँ कागज भेजा है और न किसी के पास कागज आया है! यह तो बिना पते का पार्सल करना है! गोद के बच्चे को छोड कर पेट के बच्चे की आशा करना जैसे बुद्धिमत्ता नही है, उसी प्रकार प्राप्त सुख को त्याग कर भविष्य के सुख की आकाक्षा करना भी बुद्धिमत्ता नही है।

मूर्ख को सब मूर्ख ही नजर आते है। जिसे पीलिया रोग हो गया है, उसे सब पीले ही पीले दिखलाई देते हैं। सभी रग उसके लिए पीले हैं। मगर उसे एक ही रग दिखाई देने से अन्य रगो का अस्तित्व नही मिट सकता।

अगर पीलिया के रोगी को दूसरे रग दिखाई नही देते तो यह रगो का दोष नही उसकी आँखो का ही दोष है। काला शीशा आँखो के सामने रक्खोगे तो सब पदार्थ काले दीखेंगे। यथा दृष्टि तथा सृष्टि। इस प्रकार बाह्यदृष्टि-द्रव्यनेत्रो मे विकार आ जाने से जैसे बाह्य पदार्थ अन्यथा दृष्टिगोचर होने लगते हैं, उसी प्रकार-

आन्तरिक दृष्टि—धारणा या श्रद्धा दूषित होने से मिथ्यात्वी को सब विपरीत ही विपरीत दिखाई देता है।

श्रीमद्भगवती सूत्र मे प्रश्नोत्तर आये हैं । गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—प्रभो ! मायी मिथ्यादृष्टि भावितात्मा अनगार, जिसे लब्धियाँ प्राप्त हैं, विक्रिया करके नगर, उपवन आदि बनाता है क्या ?

भगवान् ने इस प्रश्न के उत्तर मे कहा—हाँ, बनाता है ।

पुन प्रश्न किया गया—राजगृही मे रहता हुआ वाणारसी नगरी बनाता है ?

भगवान् कहते हैं—हाँ, जो कुछ बनारस मे है, सब हूबहू बनाता है, मनुष्य, पशु, पक्षी, मकान, हाट आदि ज्यो का त्यो बनाता है । वह मायी मिथ्यादृष्टि अनगार उस नाना प्रकार की विकुर्वणा को उसी रूप मे देखता है या अन्यथा रूप मे ? इस प्रश्न का भगवान् ने उत्तर दिया है—अन्यथा रूप से देखता है । विकुर्वणा बनारस की है और देखता है राजगृही को । दोनो के नक्शे जुदा-जुदा है । वह बनारस के नक्शे को राजगृही का नक्शा समझता है और इस प्रकार उल्टा ही देखता है ।

प्रश्न हो सकता है कि वह उल्टा क्यो देखता है ? इस उलट-फेर का क्या कारण है ? इसका उत्तर यही है कि मिथ्यात्व के कारण उसका ज्ञान विपरीत हो रहा है । उसका उपयोग समीचीन नही है ।

कोई बुद्धिमान् पुरुष मदिरापान कर लेता है तो नशे मे सब काम करता हुआ भी भान भूला हुआ होता है । इसी प्रकार भावितात्मा

अनगार शक्तिसम्पन्न होता हुआ भी मिथ्यात्व के कारण उल्टा देखता है। यह मिथ्यात्व का ही प्रताप है।

ऐसा अनगार दोनो नगरियो के बीच मे जनपद भी बना सकता है, पर ज्ञान उसका विपरीत ही होता है।

मिथ्यात्व के उदय से धारणा विपरीत हो जाती है। उस समय भी पदार्थ तो अपने-अपने रूप मे ही रहते हैं, उनका स्वरूप बदल नही जाता, मगर देखने वाले की दृष्टि बदल जाती है। इस प्रकार विकार पदार्थ मे नही, दृष्टि मे आता है।

जब दृष्टि मे परिवर्त्तन होता है, अर्थात् दृष्टि मिथ्या से सम्यक् बन जाती है तब पदार्थों का स्वरूप यथार्थ नज़र आने लगता है। विभगज्ञान अवधिज्ञान बन जाता है।

सज्जनो ! वास्तव मे मिथ्यात्व का नशा वडा विलक्षण है। इसके समान तीव्र नशा और कोई नही। यह नशा जब चढता है तो मनुष्य सारी सृष्टि को विपरीत रूप मे ही देखने लगता है और अपने आप को भी भूल जाता है। समझता है कि मैं पाँच भूतो के पिण्ड के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही हूं। जल मे बुलबुले की तरह उत्पन्न हुआ हूं और हवा का हल्का-सा आघात लगते ही सदा के लिए समाप्त हो जाऊँगा। मेरी त्रैकालिक सत्ता नही है। कितनी वडी मूर्खता ! कितना घोर अज्ञान !

अपढ किसान भी अपने भविष्य का विचार करता है। वह जानता है कि आज उसके पास जो है, वह खेती करने से उपजा है। उस सारी उपज को अगर खालूंगा और वोने के लिए कुछ नही रखूगा तो आगे वडी दुर्दशा होगी। भविष्य मे कुछ नही पा सकूंगा।

ऐसा सोच कर किसान भले ही आधा पेट खाए पर बीज अवश्य बचा लेता है और उसे बोकर कई गुना पाता है।

इसी प्रकार सम्यक् दृष्टि मनुष्य जानता है कि आज मुझे जो सुख-सुविधाएँ मिली हैं, वह सब पूर्वजन्म के पुण्य की खेती का फल है। उस पुण्य को अगर इसी जीवन मे पूरी तरह खत्म कर दिया और भविष्य के लिए बचा कर न रक्खा या नया उपार्जन न किया तो भविष्य बडा ही भयावह हो जाएगा। ऐसा सोच कर वह पूर्वोपार्जित पुण्य का उपभोग करता है तो साथ ही नवीन पुण्य का उपार्जन भी करता है और अपने भविष्य को उज्ज्वल एव मगलमय भी बनाता है।

इस प्रकार एक किसान भी जिस तथ्य को समझता है, उसे पढे-लिखे कहलाने वाले बहिरात्मा नही समझ पाते। यह मिथ्यात्व का ही फल है।

विवेकवान् पुरुष वही है जो भविष्य को नही भूलता। भले आदमी, इस समय तेरे पास करोडो की पू जी है, उसे विना सोचे-समझे उडा दोगे तो दिवाला निकल जाने पर क्या करोगे? काँटा लगने के पूर्व ही सावधानी रखनी चाहिए।

ज्ञानी पुरुष का कथन है कि वर्त्तमान को ध्यान मे अवश्य रक्खो, वर्त्तमान पर विशेष लक्ष्य रक्खो, परन्तु दूर की तरफ से आँख न मीच लो।

भविष्य को सुधारने का सर्वोत्तम मार्ग वर्त्तमान को सुधारना है। अगर आपका वर्त्तमान जीवन पवित्र है और धर्ममय है तो आपका भविष्य भी उज्ज्वल है।

साढे तीन हाथ भूमि देखकर चलने की मर्यादा है, ऐसा शास्त्रीय विधान है। मगर कभी-कभी लम्बा भी देखना पडता है कि कही मोटर ताँगा आदि तो नही आ रहा है! इस प्रकार मुख्यता तो पास की है पर आगे-पीछे भी देखना चाहिए। अपनी पूर्व स्थिति का भी विचार रखना चाहिए और पश्चाद्वर्त्ती स्थिति का भी खयाल करना चाहिए।

अज्ञानी और ज्ञानी मे यही अन्तर है। अज्ञानी सिर्फ वर्त्तमान को देखता है और उसे भी विकृत दृष्टि मे देखता है। भविष्य पर उसकी दृष्टि नही होती, इस कारण वह वर्त्तमान को बिगाड लेता है और वर्त्तमान को बिगाड लेने से भविष्य आप ही आप बिगड जाता है। ज्ञानी वर्त्तमान को सुधारता है, क्योकि उसकी नजर भविष्य पर भी रहती है। इस थोडे से भेद का परिणाम बहुत व्यापक होता है।

गोद के बालक का भी ध्यान रखना चाहिए और पेट के बच्चे का भी ध्यान रखना चाहिए। पेट के बालक की उपेक्षा की जाएगी तो गोद मे बालक कैसे आएगा?

मगर नास्तिक लोगो की विषय-लम्पटता इतनी तीव्र हो जाती है कि वे भविष्य की ओर से आँखें बंद कर लेते हैं और इस कारण उनका वर्त्तमान भी बहुत विकृत बन जाता है।

पजाब प्रान्त के एक गाँव मे एक सिख था, जो पुण्य-पाप को नही मानता था। मैं ने उससे प्रश्न किया—किसी भूखे को जिमाने से क्या होता है, अर्थात् पुण्य होता या नही?

उसने अपनी तार्किकता का परिचय देते हुए कहा—जिमाने वाले को पुण्य नही, खाने वाले को पुण्य हुआ।

तब मैंने कहा—कुछ भी सही, गनीमत है कि पुण्य का अस्तित्व तो स्वीकार किया ।

एक सूमडी बाई ऐसी थी जो न स्वय खाती और न दूसरो को खिलाती थी । उसके घर अचानक एक स्वामी जी भिक्षा के लिए पहुँच गये । उसने उनसे कहा स्वामी जी, दूसरा घर देखो ।

साधु तो वही है जो मान-अपमान को समभाव से सहन करता है । शास्त्रो मे भी कहा है —

समो निंदापससासु, समो माणावमाणश्रो ।

साधु समभाव के शीतल सरोवर मे किलोले करने वाला राजहस है । वह याचना परीषह को सहन करता है । फिर भी कुछ नवीन साधु याचना करने मे शर्माते है, क्योकि—

माँगन गये सो मर गये, मरे सो माँगन जाय ।
सब से पहले वे मरे जो होते हीं नट जाय ॥

याचना करने मे अपमान सहन करना पडता है । कई गृहणियाँ तो यहाँ तक कह देती हैं कि कमाना नही आता, अतएव माँगने का धधा चालू किया है ।

कभी-कभी खपा तो कभी-कभी गालियाँ मिलती है । मगर गालियाँ सहन करने मे मजा है । गाली सहन करने से घर वसता है । लडके की शादी होती है तो उसे कितनी ही गालियाँ सहन करनी पडती हैं । वह चू तक नही करता । उसके वाप को भी गालियाँ मिलती है, पर वह शान्त रहता है, कोई प्रसन्न भी होता है । लडका या वाप गर्म हो जाय तो वधू हाथ से जाए । इस प्रकार जब हाड-मांस आदि की पुतली को प्राप्त करने के लिए भी गालियाँ

खानी पडती है तो जो अनन्त और शाश्वत सुख देने वाली है, उस शिव-रमणी से नाता जोडने के लिए कितनी गालियाँ न सहनी चाहिएँ ?

रज्ज व जरना खूब है, जो टुक जारी जाय ।
वीद वहू के कारणे, केती गारी खाय ॥

पौष्टिक पदार्थ खाने से ताकत आती है पर निर्बल आदमी उसे पचा नही सकता । वचन रूपी तीरो को सहन करना बडा कठिन है । शास्त्रकार कहते है—

सक्का सहेउ आसाइ कटया,
अओमया उच्छहया नरेण ।
अणासए जो उ सहिज्ज कटए,
वईमए कन्नसरे स पुज्जो ॥

—दशवै० अ० ९—३

अर्थात्—लोभ-लालच के कारण मनुष्य उत्साह के साथ लोहमय कण्टको को भो सहन कर लेता है, परन्तु बिना किसी स्वार्थ के जो महात्मा कानो मे तीर की तरह चुभने वाले वचनमय काँटो को सहन कर लेता है, वही वास्तव मे पूजनीय होता है ।

लोहे के काटो और वचन के काटो मे कितना अन्तर है, यह बतलाते हुए कहा गया है—

मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्दरा ।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुवधीणि महब्भयाणि ॥

—दश०, अ ९, उ ३

लोहे के कांटे थोडे समय तक कष्ट देते हैं और निकालने पर सरलता के साथ निकाले जा सकते है। परन्तु वचन के कांटे बडी कठिनाई से निकलते हैं। वे हृदय में बडा गहरा घाव करते हैं। वैर की परम्परा को जन्म देते है और महान् भय के कारण होते है।

फिर भी इन वचन-कटको को—गाली आदि को जो समभाव से सहन कर लेता है और चित्त मे लेशमात्र भी कलुषभाव नही आने देता, अपशब्दो को सहन करना अपना धर्म समझता है, वही शूरवीर नररत्न है।

सज्जनो! सयम का मार्ग अत्यन्त दुर्गम है। साधु के पथ मे अनेक कष्ट आते है और उन कष्टो को पूर्ण समभाव से सहना होता है। रो-रो कर सहन करना साधु का धर्म नही है। जब मृगापुत्र राजकुमार दीक्षा लेने को तत्पर हुआ तो उसके माता-पिता ने उसे समझाया—साधु धर्म खीर का कौर नही है कि मजे से गटक गये। इसका पालन करना मेरु पर्वत को तराजू पर तोलना है, वायु को बोरे मे भरना है, लोहे के चने चबाना है और बालू का कवल है। इन शब्दो से साधुमार्ग की कठिनाइयो का आभास मिल सकता है।

'कभी घी घणा और कभी मुट्ठी चणा' यह दोनो बातें साधु-जीवन मे घटित होती रहती हैं।

आत्मज्ञान रूपी लक्ष्मी सहज मे नही मिलती। वह दामो से भी नही खरीदी जा सकती। हाव-भाव से वह रीझती नही है। वह तो सिर देने से मिलती है। उसे प्राप्त करने के लिए तन-मन की बाजी लगानी पडती है।

हाड-मास के प्रेम मे पड जाने वाला भी माता-पिता को छोड देता है। एलायची कुमार बडे साहूकार का बेटा था। वह नवयुवती

खानी पडती हैं तो जो अनन्त और शाश्वत सुख देने वाली है, उस शिव-रमणी से नाता जोडने के लिए कितनी गालियाँ न सहनी चाहिएँ ?

रज्ज व जरना खूब है, जो टुक जारी जाय।
बीद वहू के कारणे, केती गारी खाय ॥

पौष्टिक पदार्थ खाने से ताकत आती है पर निर्बल आदमी उसे पचा नही सकता। वचन रूपी तीरो को सहन करना बडा कठिन है। शास्त्रकार कहते हैं—

सक्का सहेउ आसाइ कटया,
अओमया उच्छहया नरेण।
अणासए जो उ सहिज्ज कटए,
वईमए कन्नसरे स पुज्जो ॥

—दशवै० अ० ९—३

अर्थात्—लोभ-लालच के कारण मनुष्य उत्साह के साथ लोहमय कण्टको को भी सहन कर लेता है, परन्तु बिना किसी स्वार्थ के जो महात्मा कानो मे तीर की तरह चुभने वाले वचनमय काँटो को सहन कर लेता है, वही वास्तव मे पूजनीय होता है।

लोहे के काटो और वचन के काटो मे कितना अन्तर है, यह बतलाते हुए कहा गया है—

मुहुत्तदुक्खा उ हवति कटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्दरा।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्दराणि,
वेराणुवधीणि महब्भयाणि ॥

—दश०, अ ९, उ ३

लोहे के काँटे थोडे समय तक कष्ट देते हैं और निकालने पर सरलता के साथ निकाले जा सकते हैं। परन्तु वचन के काँटे बडी कठिनाई से निकलते हैं। वे हृदय मे बडा गहरा घाव करते हैं। वैर की परम्परा को जन्म देते है और महान् भय के कारण होते हैं।

फिर भी इन वचन-कटको को—गाली आदि को जो समभाव से सहन कर लेता है और चित्त मे लेशमात्र भी कलुषभाव नही आने देता, अपशब्दो को सहन करना अपना धर्म समझता है, वही शूरवीर नररत्न है।

सज्जनो ! सयम का मार्ग अत्यन्त दुर्गम है। साधु के पथ में अनेक कष्ट आते हैं और उन कष्टो को पूर्ण समभाव से सहना होता है। रो-रो कर सहन करना साधु का धर्म नही है। जब मृगापुत्र राजकुमार दीक्षा लेने को तत्पर हुआ तो उसके माता-पिता ने उसे समझाया—साधु धर्म खीर का कौर नही है कि मज़े से गटक गये। इसका पालन करना मेरु पर्वत को तराजू पर तोलना है, वायु को बोरे मे भरना है, लोहे के चने चवाना है और बालू का कवल है। इन शब्दो से साधुमार्ग की कठिनाइयो का आभास मिल सकता है।

'कभी घी घणा और कभी मुट्ठी चणा' यह दोनो बातें साधु-जीवन मे घटित होती रहती हैं।

आत्मज्ञान रूपी लक्ष्मी सहज मे नही मिलती। वह दामो से भी नही खरीदी जा सकती। हाव-भाव से वह रीझती नही है। वह तो सिर देने से मिलती है। उसे प्राप्त करने के लिए तन-मन की बाजी लगानी पडती है।

हाड-मास के प्रेम मे पड जाने वाला भी माता-पिता को छोड देता है। एलायची कुमार वडे साहूकार का बेटा था। वह नवयुवती

नटी का नृत्य देखकर उसके मोह मे पड गया। नटी के साथ शादी करने के लिए विकल हो उठा, माता-पिता ने बहुत समझाया पर न माना। वह उस नटी के पीछे पागल हो गया—

भूख न देखे सालना, ठाम न देखे मेह।
नीद न देखे माथरा, जाति न देखे नेह॥

भूख शाक नही देखती और नीद बिछौना नही माँगती। जहाँ प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाता है वहाँ जात-पाँत का विचार नही रहता।

कहाँ एलायची का ऊँचा और सम्पन्न कुल तथा कहाँ खेल दिखाकर दर्शको का मनोरंजन करने वाली नटी! माता-पिता ने उसे बहुत समझाया, अच्छी से अच्छी कुलीन कन्याओ के साथ विवाह कर देने का आश्वासन दिया, मगर एलायची कुमार न माना। तब विवश होकर उसका पिता नटिनी के पिता के पास गया और उसको कन्या की मँगनी की। उसने उत्तर मे कहा—सेठ जी, लडकी का विवाह तो करना ही होता है। मुझे भी करना है। परन्तु करूँगा उसी के साथ जो घरजमाई बनकर रहेगा, हमारे साथ रह कर, हमारी कला सीखकर जो हमारा धन्धा करेगा।

बडी कठिन शर्त थी, पर प्रेम पागल होता है। कामवासना मनुष्य के विवेक को नष्ट कर देती है। एलायची कुमार ने नट की शर्त स्वीकार कर ली। उसने कहा—किसी भी मूल्य पर मैं इस कन्या से विवाह करना चाहता हूँ। इससे विवाह न होगा तो प्राण त्याग कर दूँगा।

जब कोई भी मार्ग न रहा तो लाचार होकर सेठ ने एलायची कुमार को नट के दल के साथ भेज दिया। कुमार हार्दिक लगन के

साथ नट-विद्या सीखने लगा। थोडे ही दिनो मे वह उसमे पारगत भी हो गया।

एक वार किसी नगर मे राजा के सामने नट-विद्या का प्रदर्शन हो रहा था। एलायची कुमार के चिर-अभीष्ट की प्राप्ति आज के खेल पर अवलम्बित थी। यदि राजा उसके प्रदर्शन को सराहना कर दे तो कुमार को नटिनी मिल जाएगी, अन्यथा पुन प्रतीक्षा करनी होगो।

ऐसा निर्णय हो जाने के कारण कुमार प्राण हथेली पर रख कर अपना कौशल प्रदर्शित कर रहा था। मगर कुमार का भाग्य कुछ और ही सृष्टि रच रहा था।

नटिनी अत्यन्त सुन्दरी थी और उसके अग-अग से रूप-लावण्य फूट रहा था। राजा की दृष्टि उस पर पडी तो वह भी उस पर मुग्ध हो गया। राजा के मन मे कुमार के लिए कुविचार उत्पन्न हुआ। सोचने लगा, यदि यह नटकुमार गिरकर मर जाय तो नटयुवती को मैं अपनी अर्धांगिनी वना लू। ऐसा सोचकर राजा ने कुमार के प्रशसनीय प्रदर्शन-कौशल की भी सराहना न की।

कुमार वास पर चढा अपना विस्मयजनक खेल दिखला रहा था कि उसी समय एक मुनि आहार के लिए नगरी मे आये। वे पडौस मे एक देवी से आहार लेते हैं। वहराने वाली देवी अत्यन्त रूपवती है। उसका सौन्दर्य नैसर्गिक था, आजकल की तरह पाउडर लगाकर सौन्दर्य का कुरुचिपूर्ण भद्दा प्रदर्शन नही था। आज की अनेक महिलाएँ अपने चेहरे पर जव पाउडर पोत लेती है तो डाकिन सी दिखाई देती है। ऊपर का यह दिखावा आन्तरिक दरिद्रता का

सूचक है। जो अपने जीवन को सयममय रखता है, जिसके हृदय मे सदा सात्विक एव सौम्य विचार रहते है और जिसका आहार-विहार सात्विक होता है, उसका चेहरा सहज सौम्य और आकर्षक हो जाता है। उसे बनावट और दिखावट की परवाह नही होती।

तो मुनि को आहार वहराने वाली बाई मे अनुपम नैसर्गिक सौन्दर्य था। किन्तु जितेन्द्रिय मुनि की दृष्टि नीचे की ओर थी। वह उसकी ओर आँख उठाकर भी नही देख रहे थे।

इधर नट वास पर अपना नाटक दिखला रहा है, दूसरी तरफ राजा की मनोभावना का नाटक चल रहा है और तीसरी तरफ मुनिराज की दिव्य और पवित्र भावना का नाटक हो रहा है।

दुनिया के लोग विषय-विकार-वर्धक नाटक देखते है और पैसे खर्च करके पाप उपार्जन करते है, परन्तु ज्ञानी जन ससार की इन विचित्रताओ का नाटक देखते है।

अकस्मात् पटपरिवर्तन हुआ और दृश्य बदल गया। राजा की दृष्टि सहसा मुनिराज पर पड गई। उसने देखा—एक युवक साधु अनिंद्य सुन्दरी युवती की ओर आँख उठा कर भी नही देख रहा है। धन्य है यह वीतराग तपोधन !

नट ने भी मुनि की ओर देखा और उसकी भी भावना पलट गई। स्थिति का परिपाक होते ही भीतर रहे हुए सस्कार ऊपर उभर आये। उसे बोध प्राप्त हो गया और खयाल आया—अहा, मैं कैसा अधम जीव हूँ जो मोह से ग्रस्त होकर इस स्थिति मे आ पहुँचा। मैंने एक नटिनी के लिये माता पिता और कुटुम्ब-परिवार का परित्याग कर दिया। कुल की मर्यादा का भी खयाल न रक्खा। माता-पिता

के चित्त को क्लेश पहुँचाया। हाय! वासना के वशीभूत होकर मैंने अपना जीवन नष्ट कर दिया।

इस प्रकार पाप का नाटक धर्म के रूप मे परिणत हो गया। अनुराग का स्थान विराग ने ग्रहण किया। भावना क्रमश उच्च और उच्चतर होती गई और उसी समय एलायची कुमार केवल-ज्ञान-दर्शन के स्वामी बन गये।

आप कह सकते है कि यह केवलज्ञान तो बडा सस्ता और सुलभ है। पर ऐसी बात नही है। उतनी उत्कृष्ट भावना आना सरल नही है। बिजली का फिटिंग करने मे देर लगती है, मगर बटन दबाने और प्रकाश होने मे कुछ भी देर नही लगती।

एलायची कुमार ने पूर्वजन्म मे बहुत साधना की थी। उसकी पर्याप्त तैयारी पहले ही हो चुकी थी।

साधारण लोग समझते है कि मनुष्य जन्म लेता है तो नये सिरे से सारी सृष्टि रचता है। परन्तु ज्ञानी जन जानते हैं कि प्रत्येक जीव अतीतकालीन सस्कार—कर्म लेकर ही आता है और उन्ही के अनुसार उसका वर्त्तमान जीवन बनता है।

कर्मो की गति इतनी विचित्र है कि परिणामो के चढते भी देर नही लगती और गिरते भी देर नही लगती।

तो जिस प्रकार मृगापुत्र को वैराग्य हो गया था, उसी प्रकार एलायची कुमार भी विरक्त होकर केवललक्ष्मी के स्वामी बने। यह लक्ष्मी ऐसी है कि एक बार प्राप्त होने पर फिर कभी नही बिछुडती। मगर इस लक्ष्मी को सच्चा आत्मवादी ही प्राप्त कर सकता है। भोगलोलुप अनात्मवादी इसे नही पा सकते। आत्मवादी के हृदय से यही पुकार उठती रहती है—

मिली तुमको पदवी जो निर्वाण पद की,
कि तुम जैसा मैं भी हुआ चाहता हूँ ।।

आत्मवादी भक्त को धन नहो चाहिए, मान नही चाहिए, सन्तान भी नही चाहिए। उसे तो एकमात्र पूर्ण आत्मशान्ति-निर्वाण चाहिए।

जो इस प्रकार उच्च भावना रखते है और प्रभु अरिहन्त की स्तुति मे अपने चित्त को व्याप्त रखते है, उनकी आत्मा पवित्र हो जाती है और वे ससार-सागर को पार कर अनन्त अक्षय सुख के भागी होते हैं।

राजकोट,
१४-८-५४

वर्द्धमान-महावीर

अगर वीर स्वामी हमे न जगाता,
तो दुनिया मे कैसे नया रग आता ?
न करता अगर कर्त्तावाद का खडन,
तो पुरुषार्थ का यहाँ किसे ध्यान आता ?
सभी जाति आपस मे लड-लड के मरती,
जो न विश्वप्रेम का पाठ पढाता ?
तो भारत मे कैसे नया रग आता,
अगर वीर स्वामी हमे न जगाता ?
मनुष्य ही ईश्वर बने यह न कहता,
तो पापो के दल पे विजय कौन पाता ?
उपस्थित सज्जनो और बहिनो !

आपको विदित है कि कालचक्र निरन्तर घूमता रहता है। जगद्व्यापी जो परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होते है उनमे अन्यान्य कारणो के अतिरिक्त काल भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है। काल के प्रखर प्रभाव से भी महान् परिवर्त्तन होते रहते है। काल का प्रभाव सजीव और निर्जीव दोनो प्रकार की सृष्टि पर अनिवार्य रूप मे पडता है। यह सत्य है कि काल किसी द्रव्य की सत्ता को विलुप्त नही कर सकता, तथापि वह प्रत्येक द्रव्य को एक अवस्था मे दूसरी अवस्था मे पहुँचाता है, अर्थात् पर्यायो मे परिवर्त्तन करता है।

काल का यह सामर्थ्य अप्रतिहत है, वह किसी भी शक्ति के द्वारा रोका नही जा सकता। काल नवजाति को सामूहिक विचार-धारा की उत्पत्ति मे भी कारण बनता है। समय-समय पर धर्म, नीति, अर्थ और समाज के क्षेत्र मे जो नवोन-नवोन विचार, वाद, सम्प्रदाय या पथ प्रचलित होते हैं, और पुराने मिटते रहते हैं, उनका आधार भी प्राय काल का प्रभाव होता है। कभी-कभी काल का ऐसा चक्र चलता है कि लोगो की श्रद्धा और विचारधारा मे आमूल परिवर्त्तन हो जाता है। एक काल ऐसा आता है और दूसरे निमित्त भी उसके असर से ऐसे जुट जाते हैं कि लोगो की धर्मभावना एकदम गिर जाती है और उनमे अधर्मभाव बढ जाता है। कभी-कभी इससे विपरीत स्थिति भी होती है। कवि ने ठीक ही कहा है—

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

जैसे गाडी के चाक की नेमि ऊपर-नीचे घूमती रहती है, उसी प्रकार काल के प्रभाव से जगत् को स्थिति भी पलटती रहती है।

काल की इस परिवर्त्तनशीलता के आधार पर जैनशास्त्रो मे काल के प्रधान रूप मे दो भेद माने गये है—उत्सर्पिणीकाल और अवसर्पिणाकाल। जिस काल मे मनुष्यो मे बल, वीर्य, सत्व, ओज, पराक्रम, आयुष्य और धर्मभाव आदि की वृद्धि होती जाती है, वह काल उत्सर्पिणीकाल कहलाता है। यह विकासकाल बढता—बढता जब अपनी चरम सीमा पर जा पहुँचता है, तभी अवनति का चक्र आरभ हो जाता है। तदनन्तर क्रमश अवनति होते-होते चरम सीमा की अवनति जब हो जाती है। अवनति का यह काल अवसर्पिणीकाल कहलाता है।

इस समय जो काल चल रहा है वह अवसर्पिणीकाल है। इसे

प्रारभ हुए बहुत बडा अर्सा हो चुका है । भगवान् ऋषभदेव से भी बहुत पहले इस काल की शुरुआत हो चुकी थी। कहना चाहिए कि लगभग आधा अवसर्पिणीकाल उस समय व्यतीत हो चुका था जब आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव इस भूमि पर अवतीर्ण हुए। आदि-नाथ के पश्चात् समय-समय पर अन्य बाईस तीर्थंकर हुए और अन्त मे चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर का जन्म हुआ।

इस सक्षिप्त वक्तव्य से आप समझ सकते है कि भगवान् महावीर के ज़माने तक जगत् कितनी अवनत दशा को प्राप्त हो गया होगा। भगवान् जिस समय जन्मे उस समय तक अवसर्पिणी-काल का अधिकाश भाग व्यतीत हो चुका था और थोडा-सा भाग ही शेष रहा था। अतएव अवनति की जडे काफी गहरी पैठ चुकी थी। लोगो की धर्म भावना बहुत विकृत हो चुकी थी। धर्म का नाम भर रह गया था। वास्तव मे सर्वत्र जडक्रियाकाण्ड, पाखड, दभ, आडम्बर और दिखावा ही फैला हुआ था। धर्म के नाम से घोर अधर्म का आचरण किया जा रहा था।

उस समय त्यागियो—तापसो के बहुसख्यक सम्प्रदाय थे और वे बाहरी तपस्या भी करते थे, परन्तु यह नही समझते थे कि धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है? सयम का आचरण किस प्रकार करना चाहिए? धर्म और सयम का लक्ष्य क्या है? आत्मा के सच्चे कल्याण का मार्ग कौन-सा है? इस अज्ञान के कारण वे बेचारे देहदमन करते हुए भी वास्तविक चारित्र मे वचित थे। कोई आग जला कर उष्णता का कष्ट भोगने मे ही तपस्या समझते थे तो कोई गले के पानी मे डूब कर शीत सहन करना ही तप का आदर्श मान रहे थे। कोई पेडो के फल, फूल, मूल, पत्ते और त्वचा आदि खाकर शरीर निर्वाह करने मे ही आत्मा का परम कल्याण समझते थे।

तात्पर्य यह है कि वे तापस बहिर्दृष्टि होने के कारण इस प्रकार के द्रव्यतप को ही तप समझे हुए थे और वास्तविक कल्याणमार्ग को पहचानने मे असमर्थ थे।

यह हुई तापसवर्ग की स्थिति। इस वर्ग के अतिरिक्त एक दूसरा वर्ग था पुरोहितो का। यज्ञ-याग कराना इसका प्रधान कर्त्तव्य था। उनके द्वारा कराये जाने वाले यज्ञ अतीव निर्दयतापूर्ण और हिंसामय होते थे। यज्ञो मे न केवल गायो, घोडो आदि पशुओ का ही, वरन् मनुष्यो तक का वलिदान दिया जाता था। बडे वडे पडित-पुरोहित इस प्रकार के हिंसामय यज्ञो का समर्थन करते थे। प्राणी प्राणरक्षा के लिए लालायित रहते थे। लोग लौकिक अभ्युदय अर्थात् स्वर्ग, राज्य आदि की प्राप्ति के लालच मे फँस कर प्राणियो के प्राणो से होली खेलते थे। इस प्रकार उस समय हिंसा का सार्वत्रिक नाटक हो रहा था। पशुओ का अति करुण क्रन्दन सुन कर लोग प्रसन्न होते थे। इस प्रकार धर्म का स्थान हिंसा ने ग्रहण कर लिया था।

उस अन्धकारपूर्ण युग मे जो विचारशील व्यक्ति थे, वे किसी रक्षक दयालु और तेजस्वी पुरुष के अवतीर्ण होने की कामना कर रहे थे। ऐसा होना स्वाभाविक ही था, क्योकि भूखे-प्यासो का ध्यान भोजन-पानी की तरफ जाता है, रोगी का ध्यान वैद्य और औषध की ओर आकर्षित होता है और अशरण जीव शरणदाता की ओर टकटकी लगाता है। छीक आने वाली हो तो सूर्य की ओर ध्यान जाता है ताकि छीक आसानी से आ जाय। इस प्रकार उस समय के प्राणियो का सकल्प एक ही दिशा मे था कि कोई महापुरुष आवे और हमारी रक्षा करे। उस विकराल काल मे, जव पापो का अन्धकार

सर्वत्र व्याप्त था और अशान्ति की ज्वालाएँ धधक रही थीं जगत् को धर्म का वास्तविक मार्ग प्रदर्शित करने के लिये, जीवों को शान्ति पहुँचाने के लिए, उनके पुण्योदय से, प्राणत नामक दसवें देवलोक से अवतरित हुए भगवान् महावीर।

भगवान् महावीर ठीक समय पर पधारे। जब रोगी वेदना से कराह रहा हो उस समय वैद्य का आना सार्थक हो सकता है। रोगी के मरने के पश्चात् अगर वैद्य आया तो उसके आने से क्या लाभ है?

तो भगवान् महावीर उचित समय पर पधारे और उन्होंने सर्वप्रथम आत्मिक शक्ति प्राप्त करने के लिए तीव्रतर तपश्चरण किया और सर्वज्ञता प्राप्त की और तत्पश्चात् धर्मतत्त्व का प्रकाशन किया। भगवान् ने सत्य धर्म का निर्मल स्रोत बहाया। बाह्य क्रिया-काण्ड में जो मूढ़ता का विष व्याप्त था, उसे पृथक् करके आन्तरिक शुद्धि पर जोर दिया और सत्य का सर्वांगीण स्वरूप संसार के समक्ष उपस्थित किया। इस प्रकार भगवान् महावीर ने जगत् का महान् कल्याण किया है। उन्हों ने प्रत्येक क्षेत्र में अपूर्व क्रान्ति की। नूतन आलोक विकीर्ण किया और नव ज्योति के दर्शन कराये।

भगवान् महावीर देवलोक से मनुष्यभव में अवतरित हुए थे। देव अपनी आयु पूर्ण करके तथा भव और स्थिति का क्षय करके आते हैं।

मानवभव एक जंक्शन के समान है। भूतकाल में जिन-जिन जीवों ने मुक्ति पाई, जो वर्तमान में पा रहे हैं और जो भविष्य में पाएँगे, वे मनुष्य भव से ही पाएँगे। ऋषि-महर्षि इसी मर्त्यलोक में आकर उत्कृष्ट धर्मक्रिया करते हैं। मर्त्यलोक ही आध्यात्मिक विकास के लिए उपयुक्त स्थल है।

महावीर स्वामी देवलोक से चल कर माता त्रिशला की कुक्षि मे पधारे। उस समय माता को चौदह प्रशस्त स्वप्न दिखाई दिये जो इस प्रकार थे—(१) हाथी (२) वृषभ (३) सिंह (४) अभिषेक (५) पुष्पमाला (६) चन्द्र (७) सूर्य (८) ध्वजा (९) कु भ (१०) पद्मसरोवर (११) सागर (१२) विमान (१३) रत्नो की राशि (१४) निधू म अग्नि।

इन स्वप्नो से माता-पिता को विश्वास हो गया कि यह कोई महान् आत्मा है, क्योंकि यह स्वप्न या तो तीर्थंकर भगवान् के गर्भ मे आने पर उनकी माता को दिखाई देते है या चक्रवर्ती जब गर्भ मे आते है तब उनकी माता को दिखाई देते हैं।

कहावत है—पूत के पैर पालने मे ही ज्ञात हो जाते है। इस का आशय यह है कि कौन बालक भविष्य मे कैसा होगा, इसका अदाज उसकी चेष्टाओ से शैशव-काल मे ही लग जाता है। परन्तु यह कथन साधारण लौकिक बालको पर ही लागू होता है। तीर्थंकर की आत्मा अनुपम, असाधारण और सर्वोत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन कर के आती है, अतएव उनके पुण्य का प्रभाव तत्काल ही प्रकट हो जाता है। वह थोडी देर तक भी छिपा नही रहता। यही कारण है कि माता की कुक्ष मे प्रवेश करते ही तीर्थंकर भगवान् का पुण्यप्रभाव चौदह महास्वप्नो के रूप मे सर्वप्रथम माता पर प्रकट होता है और फिर दूसरे लोगो पर भी प्रकट हो जाता है। इस प्रकार पूत का प्रभाव पालने मे ही अर्थात् माता के पेट रूपी पालने मे ही प्रकट हो जाता है।

कदाचित् कोई पापो जोव गर्भ मे आता है तो माता-पिता के धन और यश का क्षय होता है और पुण्यात्मा के आने से धन,

यश आदि की वृद्धि होती है। जैसे बेल समीपवर्त्ती वृक्ष से लिपट जाती है, परन्तु वृक्ष बेल के पास नही जाता। बेल मे ओघसज्ञा है और उसी ओघसज्ञा से वह वृक्ष का सहारा लेती है। उसमें व्यक्त सज्ञा नही होती। व्यक्त सज्ञा पचेन्द्रिय सज्ञी जीव मे ही पाई जाती है।

कीडी भी ओघसज्ञा से प्रेरित होकर ही अपनी इष्ट वस्तु की ओर जाती है। उसमे भी सुप्त चेतना है, सज्ञी जीवो की भाँति जागृत चेतना नही है।

बेल मे आठ प्रकार के ज्ञानोपयोग मे से दो—कुमतिज्ञान और कुश्रुतज्ञान, जिन्हे मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान भी कहते है, पाये जाते है। चार प्रकार के दर्शनोपयोग मे से अचक्षुदर्शन भी उसमे पाया जाता है। इस प्रकार बेल मे अव्यक्त चेतना की सत्ता है। यह न्यूनतम चेतना का अश है और प्रत्येक प्राणी मे उसका सद्भाव रहता है। अगर इतनी सी चेतना भी जीव मे न रहे तो जीव अजीव जड अवस्था को प्राप्त हो जाय।

हाँ, तो जैसे कोई राजकुमारी वर का आश्रय लेती है, उसी प्रकार लता तरुवर का आश्रय लेती है। लता जानती है कि अगर जमीन पर रही तो भेड बकरियो के भोजन की सामग्री बन जाना पडेगा। मगर वृक्ष का आसरा ले लेने पर भेड-बकरियो का उतना भय नही रहता।

सब नदी-नाले समुद्र की ओर जाते है। उनके लिए किसी ने पथ का निर्माण नही किया है और न कोई करता ही है। कुदरत की प्रेरणा ही उन्हे सागर की ओर ले जाती है। कवियो ने कहा है कि समुद्र के सिवाय नदी-नालो के लिए अन्य कोई आश्रय नही है।

कौडी है जिसके पास वह अहले यकीन है,
समझे है उनको वो बडे, नुक्ता नचीन है।
खाने को उमदा न्यामतें कपडे महीन हैं,
कौडी न होवे पास फिर कौडी के तीन हैं॥

यह धन की महिमा है। वास्तव मे धनवान् ही लोक मे प्रतिष्ठा के पात्र बनते हैं और बडे से बडा गुणवान् भी यदि धन-विहीन है तो उसे कोई टके सेर भी नही पूछता। कहा है—

यस्यास्ति वित्त स नर कुलीन,
स पण्डित स श्रुतवान् गुणज्ञ ।
स एव वक्ता स च दर्शनीय,
सर्वे गुणा काञ्चनमाश्रयन्ति ॥

अर्थात्—जिसके पास धन है, वही मनुष्य कुलीन माना जाता है, वही पण्डित, शास्त्रो का ज्ञाता और गुणज्ञ समझा जाता है। वही व्याख्यानपटु है और उसके दर्शन के लिए लोग लालायित रहते हैं। अधिक कहाँ तक कहा जाय, जहाँ काचन—सोना है, वहाँ सभी गुण आ वसते हैं। अर्थात् धनी मनुष्य सब गुणो का निधान माना जाता है।

एक तरह से लोगो की यह धारणा सही भी है, क्योंकि धन के बिना गार्हस्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति नही होती। धन के स्थान पर धन ही चाहिए। भोजन-पानी जीवन की अनिवार्य आवश्यक वस्तुएँ हैं और उनके लिए पैसो की आवश्यकता होती है। किसी कवि ने, सभवत. आर्थिक कठिनाइयो से झुझला कर यहाँ तक कह दिया है—

बुभुक्षितैर्व्याकरण न भुज्यते,
पिपासितै काव्यरसो न पीयते ।
न छन्दसा क्वापि समुद्धृत कुल,
हिरण्यमेवाश्रय निष्फला गुणा ॥

जब भूख के कारण पेट कुडमुडाता है तो व्याकरण के सूत्रों से उसकी तृप्ति नही हो सकती । व्याकरण शास्त्र शब्दो की समीचीनता-असमीचीनता का बोध करा सकता है, परन्तु पेट की ज्वाला शान्त नही कर सकता । पेट भरने के लिए अन्न चाहिए और अन्न के लिए धन चाहिए ।

जब मनुष्य को प्यास सताती है तो काव्य के मधुर रस का पान करने से काम नही चलता । इसी प्रकार छन्दशास्त्र के प्रखर पाण्डित्य से ही किसी के कुल का उद्धार नही हो सकता ।

इतना कहने के बाद अन्त मे कवि कहता है—इसलिए चाँदी-सोने का अर्थात् धन का ही सचय करना चाहिए । गुण बेकार हैं ।

कवि के इस कथन से कोई पूरी तरह सहमत हो या न हो, तथापि गृहस्थजीवन मे धन की आवश्यकता तो होती ही है, इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता । धन का अभाव होते ही उस सेठ की प्रतिष्ठा धूल मे मिल गई । पहले जो लोग उसका आदर करते थे, वही निरादर करने लगे ।

हाँ, साधुजीवन ऐसा है जिसमे धन की आवश्यकता नही । वह धन से कलकित होता है और अकिंचनता से शोभित होता है । साधु के समक्ष त्याग की ही कीमत है और त्याग से उच्च कोटि की प्रतिष्ठा प्राप्त होती है । यद्यपि साधु प्रतिष्ठा का इच्छुक नही होता,

तथापि उसका सयमनिष्ठ और तपोमय जीवन स्वत प्रतिष्ठा का कारण बन जाता है। जैसे धान्य के साथ भूसा अनायास ही प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार सयम के साथ मान-सन्मान की भी प्राप्ति हो जाती है।

मान-सन्मान की प्राप्ति साधु की साधना मे सहायक नही होती, अतएव साधु उसकी अभिलाषा नही करता। साधु मान और अपमान को समान भाव से ग्रहण करता है। मान-सन्मान प्राप्त होने पर कदाचित् उसके चित्त मे अहकार का भाव जागृत हो गया तो उसे हानि ही होती है। अतएव साधु मान पाकर हर्षित नही होता, बल्कि उसे समभाव से ग्रहण करता है।

तो अकिंचनता साधु का भूषण है और धन गृहस्थ का भूषण है। मगर एक बात ध्यान मे रखनी चाहिए और वह यह है कि गृहस्थ की शोभा भी न्यायोपार्जित धन से ही है। जिससे सामाजिक और धार्मिक मर्यादाओ का भग होता है, किसी जीव को कष्ट उठाना पडता है या जिस से जगत् मे अनैतिकता की वृद्धि होती है, ऐसे किसी उपाय से धनोपार्जन करना अन्यायपूर्ण है। कई लोग मास-मदिरा आदि का ठका लेकर धन कमाते हैं, पर यह अन्याय और अधर्म की कमाई अधिक दिन नही ठहरती। कहा है—

अन्यायोपार्जित वित्त, दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे, समूल हि विनश्यति॥

अर्थात्—अन्याय और अनीति से कमाया हुआ धन अधिक से अधिक दश वर्ष तक ठहरता है। ग्यारहवाँ वर्ष लगते ही वह मूल पूंजी को साथ लेकर चला जाता है।

कपडे मे डाली आग कदाचित् टिक जाय पर अन्याय का धन नही टिक सकता, जब ऐसा धन आ जाता है तो उसके जाने के मार्ग भी उसी समय तैयार हो जाते हैं। मुकदमा लग जाता है अथवा बीमारी लग जाती है। उस धन को या तो हाकिम खाता है या हकीम खाता है। अतएव गृहस्थ की शोभा न्यायपूर्वक उपार्जित धन से ही होती है।

नीतिकारो का कथन है कि घर की शोभा धन और धनियानी से है। सुशीला स्त्री घर की शोभा है। धन के साथ आज्ञाकारिणी और लज्जावती स्त्री हो और वह गृहकार्य मे कुशल हो तो घर आनन्दनिकेतन बन सकता है। अगर घर मे कर्कशा स्त्री हो तो खाया-पीया उत्तम भोजन भी क्लेश के कारण विष बन जाता है। अतएव परिवार मे अच्छी स्त्री का मिलना भी सुख का कारण है।

परिवार मे प्रत्येक व्यक्ति का भाग्य अपना २ काम करता है। हाँ, तो सेठ के तीन पुत्रो ने जन्म लेकर उसे करोड़पति से दरिद्र बना दिया। जब चौथे पुत्र के प्रसव का समय समीप आया तो सेठ अतिशय चिन्तित भाव से दाई को बुलाने चला। दाई को पता था कि सेठ के पास धन नही है और इस कारण कोई विशेष भेंट या पुरस्कार नही मिल सकता। अतएव जब सेठ ने उस से प्रसूति के लिए घर चलने का कहा तो वह बहाना करके बोली—सेठ जी, मुझे दूसरे के घर जाना है। मैं वायदा कर चुकी हूँ। आप कोई दूसरी व्यवस्था कर लीजिए।

बाइयां विवाह के अवसर पर गाना गाती है, परन्तु जिस के यहाँ बतासे मिलने की आशा होती है, उसी के घर गाने जाती है। सब जगह मतलब की दोस्ती दिखाई देती है। मतलब होने पर गधे

को भी बाप बना लिया जाता है। निस्वार्थ मैत्री करने वाले कोई विरले होते हैं।

मगर सेठ जी को दाई की अनिवार्य आवश्यकता थी, अतएव किसी प्रकार समझा-बुझा कर और प्रलोभन देकर दाई को लाये। यथासमय पुत्र का जन्म हुआ। नाल गाडने के लिये गडहा खोदा तो पीली-पीली मोहरो का एक चरू—बहुत बडा बर्तन निकल पडा।

कोई माया का गुलाम उसे धरती मे दबा कर चला गया होगा। शास्त्र मे कहा है कि शक्रेन्द्र जी के चार लोकपाल देव होते है। उनमे चौथे लोकपाल का नाम वैश्रमण है। लोग नाना स्थलो मे धन गाडते हैं और समझते हैं कि किसी को पता नही है। परन्तु वह सब धन वैश्रमण की निगाह मे रहता है। जब तीर्थंकर का जन्म होता है तो वैश्रमण लोकपाल जिस धन का कोई स्वामी नही रहा हो, उसको ला-लाकर जिस घराने मे तीर्थंकर जन्म लेते हैं, भण्डार भर देते हैं।

सूम का धन और कोडी का कन किसी के काम नही आता। मरने वाले मर जाते हैं और धन पडा रह जाता है। यह जानते हुए भी कृपण लोग अपने हाथ से उसका सदुपयोग नही करते।

अकस्मात् प्रचुर धन मिलने मे सेठ की प्रसन्नता का पार न रहा। उसने सर्वप्रथम अजलि भर मोहरे दाई को दी। आखिर वह कई पीढियो का धनी था अतएव उसका हृदय उदार था। नया साहूकार कोई विरला ही दाता होता है। सेठ ने निस्सकोच भाव से मोहरे इनाम मे दे दी। दाई बोली – नही, सेठ जी, इतना देने की क्या आवश्यकता है ?

सेठ ने कहा—कोई बात नही। तुम दूसरा जरूरी काम छोड कर आई हो, ले जाओ।

पुत्र का नाम धन्य (धन्ना) रक्खा गया।

कहने का अभिप्राय यह है कि सिर्फ कमाने अर्थात् परिश्रम करने से ही धन की प्राप्ति नही होती। कई लोग कमाने मे कुशल होते हैं मगर अन्तराय कर्म के उदय से धन प्राप्त करने मे असफल ही रहते है। हाँ, पूर्वजन्म मे पुण्य का उपार्जन किया हो तो अनायास अथवा अल्प आयास (परिश्रम) से ही प्रचुर धन की प्राप्ति हो जाती है।

तीर्थंकर अपने पूर्वजन्म मे सब को साता पहुंचाते है। एक पूर्वजन्म से नही, वरन् अनेक पूर्वजन्मो से तीर्थंकर की आत्मा प्रवुद्ध और जागृत रहती है। जन्म-जन्म के शुभ सस्कारो के फलस्वरूप उन्हे तीर्थंकर गोत्र का उदय होता है। यही कारण है कि उन्हे असाधारण ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति होती है।

भगवान् महावीर जन्म से ही वैरागी थे। ससार मे रहते हुए भी ससार से अलिप्त-से रहते थे। भोगोपभोगो मे वे कभी आसक्त नही हुए। जब २८ वर्ष की अवस्था हुई तो उन्होने दीक्षा ग्रहण करने का विचार किया। परन्तु माता-पिता का स्वर्गवास हुए बहुत दिन नही हुए थे। अतएव उनके ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन ने कहा—बन्धु, माता-पिता के वियोग का दुख तो अभी तक दूर नही हुआ है और तुम भी मुझे त्याग कर दीक्षा अगीकार करना चाहते हो। मैं इस दुख को किस प्रकार सहन कर सकूगा? कम मे कम दो वर्ष तक और मेरे साथ रहो, फिर जैसी इच्छा हो सो करना।

निश्चय मे चारित्र का उदय नही आने से और वाह्य कारण के रूप मे वडे भाई का प्रवल अनुरोध करने से भगवान् दो वर्ष तक उदासीन वृत्ति से घर मे ही रहे।

दो वर्ष बीतते क्या देर लगती है ? वे बीते और दीक्षाकाल परिपक्व हो गया। तब लौकान्तिक देवो ने अपने वियोग को पूर्ण करने के लिए पाँचवे देवलोक से आकर भगवान् से निवेदन किया—भगवन् ! बुज्झह, बुज्झह। प्रभो ! अब आप जगत् का कल्याण कीजिए। सूर्य जब तक बादलो मे छिपा रहता है तब तक अधकार का पूरी तरह नाश नही होता। आज जगत् मे मिथ्यात्व का गहन अधकार व्याप्त हो रहा है, इसे दूर कीजिए।

भगवान् तीर्थंकर स्वय सबुद्ध होते है। लौकान्तिक देवो का आगमन और गृहत्याग के लिए निवेदन तो एक रिवाज मात्र है। भवभवान्तर की तैयारी के पश्चात् तीर्थंकर की आत्मा इतनी अधिक प्रबुद्ध होती है कि उसे किसी के उपदेश अथवा अनुरोध की आवश्यकता नही होती। तीर्थंकर तीन ज्ञान लेकर आते हैं। उन्हे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान नियम से होते हैं। भूतकाल मे जो तीर्थंकर हो चुके है, वर्त्तमान मे जो हैं और भविष्यत् काल मे जो होगे, वे सभी स्वयबुद्ध ही होते है। सभी तीन ज्ञानो से सम्पन्न होते हैं। अपने ही ज्ञान से वे बोध प्राप्त करते हैं। तीर्थंकर भगवान् के अतिरिक्त कोई-कोई अन्य जीव भी स्वयबुद्ध होते हैं।

कोई-कोई जीव प्रत्येक बुद्ध भी होते हैं। उन्हे बाह्य वस्तु का निमित्त पाकर वैराग्य होता है, जैसे नमिराज ने ककणो का शब्द सुन कर वैराग्य प्राप्त किया था। नमिराज रुग्ण अवस्था मे पडे थे। उनकी रानियाँ लेप करने के लिए चन्दन घिस रही थी। नमिराज को नीद नही आ रही थी। घर्षण के कारण रानियो के ककण आपस मे टकराते थे और उनसे शब्द हो रहा था। उस शब्द से परेशान होकर नमिराज ने कहा—यह शब्द क्यो हो रहा है ?

रानियो ने समझ लिया—निर्बलता के कारण इन्हे यह आवाज सहन नही हो रही है। अतएव उन्होने कंकण उतार दिए, सिर्फ एक-एक ही कंकण हाथ मे रहने दिया। कितनी पतिपरायणा और कुशल थी वे रानियां! तनिक इशारा ही उनके लिए काफी था!

वह परिवार धन्य है जिसमे पति और पत्नी को एक दूसरे की सुख-सुविधा का ध्यान रहता है। जहाँ पति, पत्नी को सुखी रखने का प्रयत्न करता रहता है और पत्नी, पति के सुख के लिए सदैव सचेष्ट रहती है, वही परिवार गृहस्थी के सुखो का शान्तिपूर्वक उपभोग कर सकता है।

हाँ, तो उन रानियो ने एक-एक ही कंकण हाथो मे रहने दिया। इससे कोलाहल बंद हो गया। शान्ति हो गई। वातावरण मे निस्तब्धता व्याप गई। नमिराज ने इस शान्ति का कारण पूछा तो रानियो ने कहा—पहले बहुत से कंकण थे, अतएव उनमे संघर्ष होता था और उसी से आवाज़ हो रही थी। अब एक-एक कंकण रह जाने से संघर्ष बन्द हो गया है और इसी कारण शान्ति है।

यह उत्तर सुन कर नमिराज सोचने लगे—
कंकण का शोर सुन कर नमि ने विचारा ऐसा,
न मैं किसी का कोई यहाँ पै नही है मेरा।
तू एकला ही आया, एकला ही जाएगा तू।
जब कूच होगा डेरा॥

वृक्षो पै बैठ पक्षी रजनी गुजारते हैं,
बिछुड़ेंगे सब ही साथी जब होयगा सबेरा॥

सज्जनो! आप लोगो ने अनेक बार बगडियो—चूडियो की

आवाज सुनी है, परन्तु नमिराज की तरह उससे कोई बोध नही प्राप्त किया। वास्तव मे बोध वगडियो मे नहीं आत्मा मे है। बोध का उपादान कारण तो स्वय आत्मा ही है। बोध का अन्तरग कारण क्षयोपशम है।

तो अन्तरग कारण मिलने पर, बिना किसी से उपदेश पाये, बाह्य वस्तु के निमित्त से जिसे बोध की प्राप्ति हो जाती है, वह प्रत्येकबुद्ध कहलाता है। किसी को बैल को देख कर, किसी को स्तभ को देख कर और किसी को आम्रवृक्ष आदि देख कर बोध प्राप्त हो जाता है। कई लोग जड से बोध होना मानते हैं इसी कारण मूर्त्ति पूजा करते हैं और मूर्त्ति को माथा टेकते है, परन्तु यह कोई एकान्त कारण नही है। जब अन्तरग कारण प्रबल होता है तो कोई भी बाह्य कारण बोध का निमित्त बन जाता है। वह तो 'बाई दी वे' है। चूडियो मे बोध देने की शक्ति नही है। होती तो आपको भी कभी का बोध हो गया होता, क्योकि आप सदैव चूडियो की आवाज़ सुनते रहते हैं। वस्तुत चूडी या उसके समान अन्य बाह्य पदार्थ तो निमित्त मात्र ही हो सकते हैं।

कई लोग कहते है —हमारा इतना पुण्य कहाँ कि हमे साधुपना प्राप्त हो ? परन्तु साधुपन अथवा सयम पुण्योदय का फल नही है। वह तो क्षयोपशम से मिलना है।

आज की स्थिति वडी वेढव है। धर्म के ठेकेदार तो आप बने बैठे है और दीक्षा लेने के लिए दूसरी जाति वाले चाहिएं! पुण्य का नाम तो टालमटूल करने का बहाना मात्र है। जब न देना हो तो अनेक बहाने बनाये जाते है।

एक सेठ बहुत धनी था और साथ ही वडा कजूस भी था। उसके विषय मे लोगो ने यह उक्ति चरितार्थ कर रक्खी थी—

लबे चौडे गुदगुदे, गूलर के से गप्पू ।
लेन देन को कुछ नही, वाता के से टप्पू ।

कई लोग ऐस होते हैं जिन्हे लाभान्तराय का क्षयोपशम होने से धन की प्राप्ति तो हो जाती है,परन्तु भोगोपभोगान्तराय का उदय होने से वे उसका भोग और उपभोग नही कर सकते और दानान्तराय के उदय से दान भी नही दे सकते । कोई-कोई तो ऐसे कजूस होते हैं कि रोटी का टुकडा तोड कर उसे घी के डिब्बे की तरफ दिखा कर खा लेते हैं पर क्या मजाल कि डिब्बे मे से अश मात्र भी घी खरच लें । हाँ, तो वह सेठ ऐसे ही कजूसो मे से था। वह दान देना नही चाहता था परन्तु यह भी नही चाहता था कि दूसरे लोग मुझे कजूस कहे या समझे । अतएव उसने दान न देने का एक वढिया वहाना खोज निकाला । जब उसके यहाँ कोई याचक पहुँच जाता तो वह उससे कहता –भाई, मेरे यहाँ किसी वस्तु की कमी नही है। पहले खूब दान-पुण्य किया है और उसके कारण ही इतना धन मिला है कि हिसाव करते-करते थक जाता हूँ । आराम से नीद भी नही ले सकता । रात-दिन धन को सार-सँभाल रखनी पडती है। अगर इस जन्म मे दान दूगा तो आगे भी यही मुसीवत भुगतनी पडेगी । इस कारण मैं ने अभी दान देने का त्याग-सा कर रक्खा है ।

वस्तुत यह टालने का एक बहाना है । इसी प्रकार जो पुण्य की कमी का वहाना वना कर सयम नही लेते, वे उस सेठ की तरह टालने की वात करते है । असल मे ससार के विषयभोग उनसे छूटते नही है और अन्त करण मे विरक्ति का उदय नही हुआ है ।

चरित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम किया हो तो चारित्र की प्राप्ति होती है । अप्रत्याख्यानावरणकषाय चारित्रमोह के क्षयोपशम

कठोर तपस्या की। जब सवज्ञता प्राप्त हो गई तो अहिंसा भगवती का झण्डा ऊँचा उठाया। जैसे चक्रवर्ती और वासुदेव के पाचजन्य शख की गभीर ध्वनि सुन कर शत्रुओ का कलेजा थर्रा उठता है और वे गर्वहीन हो जाते हैं, उसी प्रकार सर्वज्ञ की वाणी को सुन कर प्रतिवादी निर्मद हो जाते हैं। भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि सुनकर हिंसा के पुजारी मैदान छोड कर भाग गये। हिंसात्मक यज्ञो का अन्त हो गया। इससे भारत का घोर कलक दूर हुआ। भारतवासी इस महान् उपकार के लिए सदैव भगवान् महावीर के प्रति कृतज्ञ रहेगे।

मगर आज लोग महावीर की महिमा को नही समझते। वह समझें भी कैसे, जब कि उनके अनुयायी जैनी भी उन्हे ठीक तरह नही समझ पाते।

आज जैनो का प्रचार बहुत कम है। मैं तो यहाँ तक देखता हूँ कि तुम मुखियो के लडके भी मुनियो के दर्शनार्थ नही आते। तुम तो पके-पकाये हो, भविष्य लडको के हाथ मे है। उनमे धर्मश्रद्धा उत्पन्न न हुई तो सघ का काम किस प्रकार चलेगा ? माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे जैसे स्कूल मे जाने की प्रेरणा करते हैं, उसी प्रकार बच्चो को धर्म की ओर भी प्रेरित करें। अगर बालको के सस्कार न सुधरे और श्रद्धा दृढ न हुई तो साधुओ का चौमासा कराने से क्या लाभ हुआ। आखिर चौमासे का पूरा लाभ तो बच्चो को मुनियो द्वारा कुछ धार्मिक सस्कार दिलवा कर ही उठाया जा सकता है। लडके अगर पच्चक्खाण अर्थात् नियम आदि लेने से डरते हो तो आप उन्हे मेरी ओरसे अभय दीजिए। नियम बलात्कार नही दिया जाता यह तो अपनी इच्छा पर निर्भर है। लडको को सन्तो के समागम मे आना चाहिए और माता-पिता को इसके लिए प्रेरणा देनी चाहिए।

यदि धर्म के प्रति दुर्लक्ष्य होगा और उदासीनता रहेगी तो धर्म का लोप होता जाएगा। भावी सन्तान के कन्धो पर ही धर्म और सघ का भार आने वाला है। उन्होने यह भार न संभाला तो एक दिन आ सकता है कि यह उपाश्रय खाली नज़र आने लगे। अतएव आप लोगो का कर्त्तव्य है कि आज भोजन करने से पहले ही अपने-अपने बच्चो को सतसमागम की प्रेरणा करें।

हाँ, तो भगवान् महावीर अपने पुरुषार्थ से महावीर बने। आप भी अपनी साधना मे महावीर बन सकते हो। भगवान् ने जिस पथ से परमपद प्राप्त किया, वही जगत् को प्रदर्शित किया। उस पर चल कर हम भी उसी पद को प्राप्त कर सकते हैं। इस महान् उपकार के लिए हमे कृतज्ञतापूर्वक भगवान् के गुणो का गान करना चाहिए। बोलो भगवान् महावीर की जय!

राजकोट
१५—८—५४

धर्मश्रद्धा की सुदृढ़ता

अरिहन्त अरिहन्त०।

उपस्थित सज्जनो और देवियो !

व्याख्यान का प्रधान विषय आत्मा है, जो कुछ दिनो से चालू है। आत्मा के सम्बन्ध मे कहते कहते कभी कुछ आनुषंगिक विषयो पर भी प्रकाश डालना पडता है, तथापि उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आत्मा के साथ सबध होता ही है। वस्तुत आत्मा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और सम्पूर्ण जगत् का उसके साथ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को कुछ अन्यथा रूप मे समझ लेने के कारण भारतवर्ष मे अद्वैत की विचारधारा प्रचलित हुई थी। अद्वैतवादियो का कथन है कि जगत् मे जो असख्य-अनन्त आत्माएँ है, वे वास्तव मे पृथक्-पृथक् नही, वरन् एक ही आत्मा की प्रतिच्छाया हैं, एक ही आत्मा के नाना प्रतिबिम्ब हैं। उस आत्मा को ब्रह्म कहो, परब्रह्म कहो, सत्ता कहो, अथवा किसी दूसरे नाम से कहो, पर मूल मे वस्तु एक ही है।

जब अद्वैतवादियो से कहा जाता है कि यदि आत्मा एक ही है तो भिन्न-भिन्न शरीरो मे भिन्न-भिन्न क्यो दिखाई देती है ? इसके उत्तर मे उनका कथन है कि शरीर रूप उपाधि की भिन्नता के कारण आत्माएँ भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होती हैं। इस विषय मे वे एक उदाहरण उपस्थित करते हैं। उनका कहना है कि अगर सौ-पचास

पात्रो मे पानी भर दिया जाय और चन्द्रमा उनमे प्रतिविम्बित हो तो वह एक होने पर भी अलग-अलग पात्रो मे अलग-अलग दिखाई देता है। इसी प्रकार आत्मा एक होने पर भी अलग-अलग शरीरो मे अलग-अलग प्रतीत होती है।

श्रीमत् सूत्रकृतागसूत्र मे इस मत की मान्यता बतलाते हुए कहा गया है—

जहा य पुढवीथूभे, एगे नाणा हि दीसइ।
एव भो ! कसिणे लोए, विन्नू नाणा हि दीसइ॥

अर्थात्—जिस प्रकार एक ही पृथिवीपिण्ड नाना रूपो मे दिखाई देता है, उसी प्रकार एक आत्मरूप जगत् नाना रूपो मे दिखाई देता है।

स्मरण रखना चाहिए कि आत्माद्वैतवादी अखिल लोक मे एक ही आत्मा मानने के साथ दूसरी कोई सत्ता स्वीकार नही करते। उनके कथनानुसार आत्मा के अतिरिक्त जड पदार्थों की भी सत्ता नही है। जैसे एक ही पृथिवीसमूह नदी, समुद्र, पर्वत, नगर, आदि-आदि पृथक् रूपो मे दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार एक आत्मा ही जड-चेतन आदि रूपो मे दिखाई पडती है। यथा—

एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थित ।
एकधा वहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

अर्थात् एक ही आत्मा नाना भूतो के रूप मे स्थित है। वह एक होने पर भी जल मे प्रतिविम्बित होने वाले चन्द्र के समान नाना रूपो मे दिखाई देती है।

इस कथन के अनुसार सब आत्मा ही एक नही है, वरन अखिल जगत् ही एक आत्मस्वरूप है।

परन्तु यह मान्यता अनुभव से बाधित होने के साथ ही युक्ति और प्रमाण से भी सगत सिद्ध नही होती। प्रथम तो चन्द्रमा का उदाहरण ही ठीक नही है । जलपूर्ण नाना पात्रो मे दिखाई देने वाला एक चन्द्रमा सब पात्रो मे एक सरीखा ही दिखाई देता है, विभिन्न आकार-प्रकार का नही। किसी पात्र मे दूज का चन्द्रमा दिखाई दे, किसी मे अष्टमी का और किसी मे पूर्णिमा का, ऐसा नही होता। परन्तु विभिन्न शरीरो मे प्रतीत होने वाली आत्माओ मे इस प्रकार की एकरूपता दृष्टिगोचर नही होती । मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतग आदि अनेकानेक योनियाँ है और उन योनियो मे गत आत्माओ मे बहुत भेद प्रतीत होता है। यह भेद उनके बाह्य रूप रग आदि मे ही नही होता, वरन् चैतन्य की मात्रा के विकास मे भी होता है। ऐसी स्थिति मे चन्द्रमा के उदाहरण से सब आत्माओ का एकत्व कैसे माना जा सकता है ?

इसके अतिरिक्त अगर आत्मा एक ही है तो एक के सुखी होने पर सब को सुखी होना चाहिए और एक के दुखी होने पर सब को दुखी होना चाहिए, अर्थात् सुखी-दुखी का भेद नही रहना चाहिए। यही नही, एक की मृत्यु होने से सब को मरना चाहिए। और एक के जन्म लेने पर सब का जन्म होना चाहिए। इसी प्रकार एक जीव अगर पापकर्म या पुण्यकर्म करता है तो सब को पाप या पुण्य कर्म का बध क्यो नही होता ? एक की मुक्ति होने पर सब की मुक्ति क्यो नही होती ?

इस प्रकार जब तात्त्विक दृष्टि से विचार करते है तो स्पष्ट मालूम हो जाता है कि आत्माद्वैत का सिद्धान्त किसी प्रकार सगत नही है। वास्तव मे आत्माएँ अनन्त है और प्रत्येक शरीर मे पृथक्-पृथक् आत्मा है। इसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध मे ससार मे और

भी नाना मत हैं और वे अपनी-अपनी पुष्टि के लिए अनेक प्रकार के कुहेतु देते हैं।

अनन्त हेतु और अनन्त कुहेतु है। पदार्थ के सच्चे रूप का चित्रपट खडा करने वाला या उसके सही रूप का निरूपण करने वाला हेतु होता है। लेकिन वस्तु कुछ और हो और उसे अन्यथा रूप मे सिद्ध करने वाला कुहेतु कहलाता है। अद्वैतवादी अपनी मान्यता को सिद्ध करने के लिए कुहेतु देता है। वह अपने पक्ष की पुष्टि के अभिनिवेश मे सचाई को भूल जाता है।

जब मनुष्य पक्ष मे पड जाता है तो उसे यह भान ही नही रहता कि उसका पक्ष कितना खोटा है। वह अधा होकर उसका समर्थन करता है। उसकी दृष्टि दुराग्रह और पक्षपात के कारण सत्य से विमुख हो जाती है।

कई लोग ऐसे भी होते हैं, जिनके अन्त करण मे अभिनिवेश, आग्रह अथवा पक्षपात तीव्र नही होता, फिर भी वे वस्तु का गलत रूप ही मानते हैं। इसका कारण उनका अज्ञान है। उन्हे बोध ही ऐसा मिला और उपदेशक ही ऐसा मिला कि उनकी धारणा विपरीत बन गई। उन बेचारो को न सत्साहित्य मिला और न सच्चापथ प्रदर्शक ही मिला। ऐसे लोगो को जब तक यथार्थ उपदेशक नही मिलता तब तक उनकी श्रद्धा विपरीत ही बनी रहती है। जैसे अनजान पथिक भूल से गलत मार्ग को सही मान लेता है और उस पर चलता चला जाता है, उसी प्रकार वे लोग भी असत्य वस्तुस्वरूप को सत्य मान लेते हैं और उसी के अनुसार श्रद्धा तथा प्रवृत्ति करते हैं।

विहार के समय कई बार हमे भी इस प्रकार की कठिनाई का सामना करना पडता है। हम भी कभी भूल के कारण गलत

मार्गको सही मान कर चल देते हैं। चलते-चलते किसी दूसरे से पूछते हैं और वह सही राह बतलाता है तो भूल सुधार कर उस पर चलने लगते हैं। वीरमगाम से चल कर हम जब लीबडी आ रहे थे तो रास्ता भूल गए। जब एक बाई ने बतलाया तो ठीक रास्ता पकडा। एक बार नही ऐसे अवसर कई बार आ जाते हैं बुद्धिमत्ता इसी मे है कि पूर्व गलत रास्ता जो लिया था, सही रास्त मालूम होने पर उसे छोड सही मार्ग पर चले।

एक मनुष्य ऐसा होता है जो मार्ग को जानता तो नही है पर हठी भी नही है। वह सही राह बतलाने पर उसी पर चलने लगता है। दूसरा अभिनिवेशी होता है। वह सत्य को जान कर भी स्वीकार नही करता। कई लोग २०-२० और २५-२५ वर्ष तक सच्चे मार्ग पर चल कर मिथ्यात्व के उदय से विमुख हो जाते हैं और सत्यमार्ग को छोड बैठते है।

मिथ्यात्व का उदय होता है तो ज्ञान विपरीत हो जाता है। तपश्चर्या से अनन्त जीवो ने मोक्ष प्राप्त किया है,करते हैं और करेंगे, यह जानते हुए भी उसे जडक्रिया बतला कर तपश्चर्या का निषेध करते हैं। यहाँ तक कि तपादि क्रिया को अनन्त ससार-परिभ्रमण का कारण रूप बतलाते हैं। मोक्षमार्ग को क्रिया को ससार का मार्ग कहते है। पाँच महाव्रतो को भी शुभास्रव-पुण्यरूप होने से ससार का माग बतलाते है। माया के पुजारी, इन्द्रियो के गुलामो ने सुखद पथ निकाला है जिससे कुछ करना न पडे। वे कहते है—बस आत्मा को पहचानो। मगर आत्मा को कैसे पहचाने ! अभी तक क्यो नहीं पहचान पाये ? वे कह सकते है कि आवरण के कारण आत्मस्वरूप नही पहचान पाये। दर्पण पर मैल चढा है, स्याही लगी हुई है। मिट्टी का लेप है। अतएव मुख कैसे दिखलाई दे सकता है ? दर्पण

यह सुनकर उस गदे वस्त्र को लाने वाला धृष्ट कहता है— तुम स्वय तत्त्व को नही समझने और मुझे मूर्ख कहते हो। अभी तक तुमने परमार्थ को नही जान पाया है। वस्त्र अपने मूल रूप मे शुद्ध ही है। उसे अशुद्ध और गदा मानना तुम्हारी भ्रान्ति है। तत्त्व को समझो, विचार करो।

यह उत्तर सुनकर भोजन करने वाला व्यक्ति क्या कहेगा? यही कहेगा न कि दुनिया भर की समझदारी का ठेका तुम्ही ने ले रखा है! अपना तत्त्वज्ञान अपने पास ही रहने दो और यहाँ से हट जाओ।

तो अभिप्राय यह है कि निश्चय जानने योग्य अवश्य है परन्तु करने योग्य तो व्यवहार ही है। अगर व्यवहार की उपेक्षा की जाय अथवा उसका तिरस्कार किया जाय तो जैनधर्म का समग्र आचरण-शास्त्र वेकार हो जाएगा। भगवान् के उपदेश रूप बारह अगो मे आचाराग सूत्र को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है और शास्त्रो मे स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि ज्ञान का फल चारित्र है। जिस ज्ञान के फल-स्वरूप चारित्र की प्राप्ति नही होती, वह ज्ञान निष्फल है और अज्ञान की कोटि मे गिनने योग्य है। ऐसी स्थिति मे व्यवहार को सर्वथा उडा देना और एकान्त निश्चय का समर्थन करना जैनधर्म के विरुद्ध है।

जिस प्रकार निश्चय मे वस्त्र शुद्ध होने पर भी व्यवहार साधने के लिए वस्त्रशुद्धि की क्रिया की जाती है, साबुन पानी आदि सामग्री को लेकर पुरुषार्थ किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा अपने मूल भाव मे शुद्ध है तथापि व्यवहारनय से उसकी मलीनता को अस्वीकार नही किया जा सकता। व्यवहार का ध्यान रखना भी आवश्यक है।

शास्त्रो मे स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है कि जब भगवान् तीर्थंकर या कोई अन्य मुनि किसी नगर मे पधारे और नगर के बाहर के उद्यान मे ठहरे तो उस नगर के राजा ने तथा अन्य धार्मिक जनो ने स्नान करके तथा शुद्ध वस्त्र धारण करके उनके दर्शनार्थ और उपदेश श्रवणार्थ गमन किया।

श्रावको का वह स्नान और शुद्ध वस्त्रो का परिधान कोई धर्मक्रिया नही थी। स्नान करने से और शुद्ध वस्त्र पहनने से धर्म नही होता, तथापि व्यवहार की शुद्धि के लिए वे ऐसा करते थे।

तो वस्त्र की शुद्धि के विना काम नही चलता। जो आज व्यवहार का निषेध करते है वही व्यवहार मे पूरी तरह रचे-पचे दिखाई देते है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि उपदेश देते समय तो व्यवहार का निषेध करना और उपदेश के पश्चात् और पूर्व व्यवहार का अनुसरण करना! जो स्वय साफ सुथरे रहते हैं और जिनके वस्त्र तथा अगोपाग चमकते रहते हैं, वे जब व्यवहार का वाणी से निषेध करते है तो यही लोकोक्ति याद आ जाती है कि—कथनी कुछ और करनी कुछ! सारा जीवन व्यवहार मे डूबा हुआ और सारा उपदेश निश्चय मे डूबा हुआ! इस प्रकार की परस्पर विरोधी वृत्तियाँ जहाँ विद्यमान हो, वहाँ वास्तविकता कैसे ठहर सकती है?

जो आत्मा को एकान्त शुद्ध मानते हैं, वे स्वय क्यो साफ-सुथरे रहते है? आत्मा को भूख नही लगती तो वे भोजन क्यो करते हैं? आत्मा का स्वभाव भाषण करना नही है, फिर वे क्यो भाषण करते है? आत्मा को थकान नही होती तो फिर चार आदमियो का कधा क्यो तोडा जाता है, पालकी मे बैठ कर? मगर जनता को फुसलाने के लिए लोग कुहेतु और कुतर्क का प्रयोग करते है।

मे मुख दिखलाने की शक्ति है, मगर जब तक उस पर मलीनता है तब तक मुख दिखलाई नही दे सकता। अतएव अगर मुख देखना है तो दर्पण का मैल दूर करो और फिर मुख देखो। आत्मा मे आत्मा को देखो।

इस प्रकार कहना तो सरल है, मगर प्रश्न यह है कि आत्मा रूपी दर्पण पर आये आवरण को दूर करने के लिए कुछ करना चाहिए या बिना कुछ किये ही वह आवरण दूर हो जाएगा ? मगर वे तो कहते है—नही, कुछ करने की जरूरत नही है, सिर्फ आत्मा को ओलखो ! क्या यह उत्तर आप लोगो की समझ मे आता है ? कुछ भी क्रिया किए विना आत्मा का आवरण दूर हो सकता है ? अगर ऐसा होता तो सर्वज्ञदेव ने, 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्ष' अर्थात् ज्ञान और क्रिया दोनो के समन्वय से ही मोक्ष हो सकता है, ऐसा विधान क्यो किया ? भगवान् ने चारित्र की और तप की आवश्यकता क्यो प्रतिपादित की ? स्वय क्यो तपस्या की ? राजमहल मे बैठे-बैठे आत्मा को क्यो नही पहचान लिया ?

आत्मा को पहचानना ज्ञान है और अकेले ज्ञान से मोक्ष नही प्राप्त हो सकता। किसी भी जैन सम्प्रदाय ने ऐसा नही माना है और न किसी भी शास्त्र से यह मान्यता सिद्ध हो सकती है। अकेला ज्ञान मोक्ष का असमग्र कारण है और असमग्र कारण से कार्य की सिद्धि न आज तक हुई है और न कभी होगी।

उनका कहना है कि सब द्रव्य अपने-अपने रूप मे हैं। एक परमाणु को भी कोई इधर-उधर नही कर सकता। सज्जनो ! अगर यही मान्यता एकान्त रूपेण सत्य है तो क्या कोरे भाषण से आवरण दूर हो जाएगा ? अगर यो ही आवरण दूर हो जाते तो साक्षात्

तीर्थंकर भगवान् महावीर को साढे बारह वर्ष और पन्द्रह दिन तक तपस्या करने की क्या आवश्यकता थी ? क्या भगवान् को यह अपूर्व अद्भुत तत्त्वज्ञान मालूम नही था ?

आत्मा के आवरण को, आत्मा के साथ बद्ध अनन्त वर्गणाओ को दूर करने के लिए प्रयत्न अपेक्षित है और वही प्रयत्न चारित्र कहलाता है, महाव्रत समिति गुप्ति आदि जिसके प्राण है।

कपडा श्वेत है, रुई सूत आदि भी श्वेत हैं। परन्तु सगदोप से, शरीर के सम्पर्क से वस्त्र मैला हो जाता है। इस प्रकार स्वभाव से स्वच्छ होने पर भी शरीर के सम्पर्क से वस्त्र मे मलीनता आ जाती है। इतनी मलीनता आ जाती है कि उसके डोरे भी पृथक्-पृथक् ज्ञात नही होते।

यहाँ निश्चय दृष्टि से वस्त्र श्वेत-स्वच्छ है परन्तु व्यवहार दृष्टि से उसमे मैल है। मैल का आशय यह है कि उसका पूर्ववर्त्ती स्वच्छ स्वरूप मलीनता से आच्छादित हो गया है। उसमे मिलावट आ गई है।

जिस प्रकार निश्चयदृष्टि का अपलाप करना उचित नही है, उसी प्रकार व्यवहारदृष्टि का अपलाप करना भी अनुचित है। व्यावहारिक दृष्टि को अस्वीकार करने से सम्पूर्ण लोकव्यवहार बिगड जाता है। एक उदाहरण लीजिए—मान लीजिए कि मल-मूत्र से लिप्त कोई वस्त्र किसी के भोजनालय मे ले गया। वह वस्त्र वातावरण को दुर्गंधित करता है और घृणा उत्पन्न करता है। उसे देखकर भोजनालय मे बैठा भोजन करने वाला पुरुष वस्त्र ले जाने वाले से कहता है—तुम बडे मूर्ख हो ! तुम्हे इतनी भी तमीज़ नही कि ऐसी गदी वस्तु भोजनालय मे नही लानी चाहिए !

सगति करने से,इसी प्रकार राह चलते मार्ग मे मिल जाएँ या स्थानक मे हो या गोचरी के लिए घर पर पधारें तो उन्हे वन्दन-नमस्कार आदि करने से तथा धर्म सुनने से धर्म का लाभ हो सकता है। इसके विपरीत जो साधु के समीप जाता नही, मार्ग मे मिल जाएँ तो मुँह फेर लेता है और गोचरी के लिए घर पर आवें तो किनारा काट जाता है और इस प्रकार साधु के सम्पर्क से बचता रहता है, उसे धर्म की प्राप्ति नही हो सकती।

भगवान् का मार्ग विनयमूलक मार्ग है। शास्त्र मे तीन प्रकार के आचार्य बतलाए गये है—कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य। जो गायन,वादन आदि कलाओ की शिक्षा देते हैं वे कलाचार्य कहलाते है। मीनाकारी आदि शिक्षा सिखाने वाले शिल्पाचार्य होते है। बहत्तर कलाएँ हैं और सौ प्रकार के शिल्प है। ये दोनो प्रकार की शिक्षाएँ ससार-खाते मे हैं। इनसे ऐहिक जीवन मे लाभ हो सकता है परन्तु परलोक के सुधार मे कुछ भी सहायता नही मिलती। ये दोनो विद्याएँ शरीरपोषण और मनस्तोष के लिए हैं, मगर आत्म-कल्याण के लिए नही है। ऐहिक दृष्टि से उनका कुछ भी महत्त्व हो परन्तु पारलौकिक दृष्टि से कोई महत्त्व नही है।

तीसरे प्रकार के गुरु धर्माचार्य हैं जो धर्म की शिक्षा देते हैं और शाश्वत आत्मकल्याण का मार्ग प्रदर्शित करते हैं।

धर्माचार्य पाँच महाव्रतो, पाँच समितियो और तीन गुप्तियो से सम्पन्न होते हैं। वे स्वय पाँच आचारो का पालन करते हैं और दूसरो से पालन करवाते हैं। पाँच आचार ये हैं —(१) ज्ञानाचार (२) दर्शनाचार (३) चारित्राचार (४) तप आचार और (५) वीर्याचार।

ज्ञानाचार का अभिप्राय है पारमार्थिक ज्ञान देना। कई साधु और आर्याएँ नई रोशनी से प्रभावित होकर कहते हैं—साधुओ को पाठशालाओ मे जाकर शिक्षा देनी चाहिए, मगर यह हमारे पतन की बात है। हम न कलाचार्य हैं, न शिल्पाचार्य हैं। यही सिखाना होता तो साधु बनने की क्या आवश्यकता थी? शास्त्र ने कलाचार्य और शिल्पाचार्य को अलग और धर्माचार्य को अलग रक्खा है। खीर और कढी का सम्मिश्रण करना अच्छा नही। ऐसा करने से दोनो का स्वाद चला जाता है। अतएव जो सब को एकमेक करने की बात करते है, वे समझदारी से काम नही लेते हैं।

ज्ञान विनय से आता है और विनय का तकाज़ा है कि अगर किसी को धर्म का बोध प्राप्त करना है तो वह गुरु की उपासना करे—गुरु की सेवा मे उपस्थित हो। जिसे अपनी प्यास बुझानी है उसे कूप के पास जाना पडता है। कूप को अपने पास बुलाने की इच्छा नही की जाती। प्राचीन काल के वर्णनो को पढने से स्पष्ट होगा कि जिज्ञासु जन धर्मगुरुओ के पास जाकर शुश्रूषा करते थे। राजा हो, महाराजा हो अथवा चक्रवर्ती ही क्यो न हो, वह धर्मगुरु से यह अपेक्षा नही रखता था कि वे हमारे स्थान पर आकर धर्म का उपदेश या बोध दें। न केवल ज्ञानी के प्रति, वरन् ज्ञान के प्रति बहुमान प्रदर्शित करने के लिए भी यही प्रणाली उपयुक्त है। अगर धमगुरु धर्म का बोध देने के लिए इधर-उधर भटकने लगे तो वे कही के भी नही रहेगे।

इस प्रकार भक्तो को यथोचित विनय के साथ ज्ञान लेना चाहिए और गुरु को अपने पद के गौरव की रक्षा करते हुए और साथ ही अपने उत्तरदायित्व को निभाते हुए सच्चा मार्ग बतलाना चाहिए।

एक जगह एक धर्मगुरु ने विरादरी मे फूट डाल कर एक स्थानकवासी जैन व्यक्ति को अपनी तरफ खीचने का प्रयत्न किया। वे धर्मगुरु मूर्ति मे विश्वास रखते थे। दिल्ली के एक स्थानकवासी जैन जौहरी का एक लडका उस धर्मगुरु के दर्शनार्थ वहाँ जा निकला। वहाँ चर्चा चली। गुरु जी ने उस लडके को मूंडने का प्रयत्न किया। उन्होने कहा—तुम्हारे साधु भूल करते हैं जो कि मूर्ति पूजा नही करते हैं। देखो वे मर कर देवलोक मे जाएँगे वहाँ तो मूर्ति की पूजा करनी ही पडेगी। अतएव उन्हे यही से मूर्ति पूजना आरम्भ कर देना चाहिए।

जौहरी के उस लडके ने इसका ऐसा उत्तर दिया कि गुरुजी की जवान बन्द हो गई। वह बोला—देवता पूजा करते है सो व्यावहारिक दृष्टि से, लौकिक आचार के अनुसार पूजा करते हैं। वे सिहासन आदि को भी पूजते है। किन्तु आप तो मोक्षबुद्धि से पूजा करते है। अगर मोक्षबुद्धि से पूजा न करो तो बाधा नही।

साथ ही उसने कहा—आप आरम्भ-समारम्भ से वहुत कुछ बचे हुए हो, अत आप भी देवलोक मे जाओगे। देवलोक मे जाकर भोगी वनना पडेगा, तो क्या यह सोच कर आप यही से भोगी वन जाएँगे ? क्या भोग की क्रिया यही से शुरू कर देंगे ?

यह युक्तियुक्त उत्तर सुनकर गुरुजी की तूती वन्द हो गई। वह लडका होशियार था और उसे जैन सिद्धान्तो की अच्छी जानकारी थी।

तात्पर्य यह है कि आप लोगो को भी सिद्धान्त-शास्त्र की जानकारी होनी चाहिए । दुनिया मे नाना प्रकार की दृष्टियाँ

प्रचलित हैं। लोग तरह-तरह की कल्पनाएं करके मनमानी प्ररूपणा करने लगते है और सत्य को मिथ्या तथा मिथ्या को सत्य कहते हैं। जो सिद्धान्त से अनभिज्ञ हैं वे सहज मे ही ऐसे लोगो के चक्कर मे आ जाते हैं और सन्मार्ग से च्युत हो जाते हैं। कोई सच्ची क्रिया को भी जडक्रिया वतला कर उसकी अवहेलना करते हैं तो कोई लौकिक क्रियाओ मे ही धर्म समझ लेते है। इन सब बुराइयो से बचने का एक ही समीचीन उपाय है और वह यह कि धर्मशास्त्रो की जानकारी प्राप्त की जाय। शास्त्रो के अध्ययन से विवेक रूपी नेत्र खुल जाते हैं और वास्तविक प्रकाश उत्पन्न हो जाता है। उस प्रकाश मे मनुष्य स्वत अपने मार्ग का निश्चय कर सकता है। वह असन्मार्ग से वच कर सन्मार्ग पर चल सकता है।

किन्तु समाज मे सभी लोगो की योग्यता ऐसी नही होती कि वे स्वय शास्त्रो का अध्ययन, मनन, पर्यालोचन एव चिन्तन कर सकें। ऐसी स्थिति मे सुगम और उत्तम मार्ग यही रह जाता है कि उन्हे सिद्धान्तशास्त्र के वेत्ता साधु-सन्तो की विशेष रूप से सगति करनी चाहिए और उनमे चर्चा-वार्त्ता करके अपनी श्रद्धा को सही रूप मे स्थिर रखना चाहिए।

हमारे एक भाई ने कहा कि वडे-वडे धनी दूसरी तरफ जाते हैं। मुझे भो कई बार विचार आता है कि ऐसा क्यो होता है? ऐसा कहने वाले के वुजुर्ग दृढधर्मी थे। मगर साधुसगति न करने से लोग डावाडोल हो जाते हैं। इसीलिए मैं भारपूर्वक कहता हूँ कि भावी पीढो को साधुओ के सन्निकट लाओ।

चार प्रकार से, साधुसमागम द्वारा, धर्म की प्राप्ति होती है। साधु उद्यान मे विराजमान हो और वहां जाकर उनकी उपासना-

वैद्य-डाक्टर का अधिकार है कि वह रोगी के हित मे जैसी दवा देना चाहे वैसी दे। वह योग्यतानुसार नीति अपनावे। सुधार की बुद्धि से शिक्षा देवे। पगडी के स्थान पर पगडी रहनी चाहिए। खीर जुदी रहे तो अच्छा स्वाद आता है। कढी के साथ मिला दोगे तो खीर का स्वाद भी गँवाओगे और कढी का मजा भी न ले पाओगे।

ससार मे खीर और कढी दोनो की जरूरत है। अर्थात् धार्मिक शिक्षा और व्यावहारिक-लौकिक शिक्षा-दोनो की आवश्यकता है। धर्माचार्य व्यावहारिक वातो मे न पडे। दुनियादारी के झमेलो से उसे दूर ही रहना चाहिए।

भगवान् ने तीनो प्रकार के आचार्यों के कार्य जुदे-जुदे बतलाए हैं। रेल की पटरी पर मोटर नही चल सकती और मोटर-रोड पर रेल नही चल सकती। मगर जव निर्धारित मार्ग से हट कर इधर-उधर चलने का प्रयत्न किया जाता है तो गडवडी होती है।

तीन प्रकार के आचार्य वतलाने के साथ ही साथ यह भी बतलाया गया है कि किस आचार्य की सेवा किस प्रकार करनी चाहिए। कलाचार्य की सेवा धन-धान्य आदि से की जाती है। अन्न-पानी और द्रव्यादि देकर उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट की जाती है। शिल्पाचार्य की सेवा भी इसी प्रकार होती है। मगर धर्माचार्य की सेवा किस प्रकार की जाय ? उत्तर है—जहाँ-जहाँ उनके दर्शन हो, वन्दना-नमस्कार करने से और निर्दोष तथा प्रासुक आहार-पानी देकर उनकी सेवा की जाती है।

अध्यापक के मिलने पर लडके उसे नमस्कार करते हैं परन्तु यहाँ तो भरे वाजार मे निकलने पर विरले लोग ही साधु को नमस्कार

करते होगे। ऐसे भी लोग हैं जो साधु को घर मे आया देख इधर-उधर मुँह छिपा लेते है। मगर साधुओ की सगति मे न आने वाले लोग ही प्राय ऐसा करते है। साधु घर मे प्रवेश करे और गृहस्थ कुर्सी पर जमा रहे! यह कितनी शोचनीय स्थिति है?

साधु मान-सन्मान का भूखा नही होता। आदर-सत्कार पाने के लिए उसने सयम अगीकार नही किया है। आदर सत्कार पाकर उसके मन मे हर्ष नही होता और अनादर मिलने पर विषाद नही होता। मान-अपमान उसके लिए समान हैं। साधु जानता है कि मान-प्रतिष्ठा मिलने से ज्ञान-चारित्र की वृद्धि नही हो जाएगी और अनादर होने से उसके गुणो का ह्रास नही हो सकता। भगवान् का आदेश है कि साधु का जीवन स्वतत्र और निस्पृह होना चाहिए। आगम मे घोषणा की गई है—

जो न वदे न से कुप्पे, वदिओ न समुक्कसे।

अगर कोई गृहस्थ साधु को देख कर वन्दना नही करता तो साधु को कोप नही करना चाहिए और यदि कोई वन्दना करे तो अभिमान नही करना चाहिए।

इस प्रकार साधु का मार्ग बडा टेढा है। उसे राग से भी बचना है और द्वेष से भी बचना है।

पुढवीसमे मुणी हवेज्जा।

अर्थात्—साधु को पृथ्वी के समान सहनशील होना चाहिए।

और भी कहा है—

कोइएक वदत कोइएक निन्दत,
कोइएक भावसू देत है भिक्षण।

कोई कहै ये तो दीसे है मूरख,
कोई कहै यह तो बडा विचक्षण।
'सुन्दर' कोई पै राग है न द्वेष है,
ये सब हैं साधु जी के लक्षण ॥

समभाव साधु जीवन का प्राण है। स्तुतिकर्त्ता और निन्दा-कर्त्ता दोनो उसके लिए समान हैं। वह न किसी पर रुष्ट होता है, न तुष्ट होता है। समान भाव से वह सब का कल्याण चाहता है, सब की आत्मा का हित चाहता है। धर्म की वृद्धि हो, ऐसी उसकी भावना बनी रहती है। इसी कारण मैं जोर देकर प्रेरणा करता हूँ कि भावी पीढी को धर्म का बोध देना चाहिए।

कल जो प्रेरणा की थी उसका कुछ परिणाम निकला है। तीन-चार परिवार के बालक मेरे पास आये। मेरा विश्वास है कि प्राय बालक बात मानते है, सिर्फ मनाने वाला चाहिए। अगर आपने बालको को साधुओ की तरफ आकर्षित किया तो मैं यहाँ चौमासा करना सार्थक समझूंगा। धर्म की परम्परा को अविच्छिन्न रूप से प्रचलित रखने के लिए भविष्य की प्रजा को धर्मशिक्षा देने की अनिवार्य आवश्यकता है। यही नही, उनके जीवन के सुधार के लिए भी यह आवश्यक है। जीवन मे अगर धार्मिकता का भाव न रहा तो समझ लीजिए कि वह जीवन अभिशाप बन गया। धर्मविहीन जीवन स्वय के लिए, समाज के लिए और अन्तत विश्व के लिए भी अमगलकारी सिद्ध होता है। अतएव मैं चाहता हूँ कि आप मेरी माँग पूरी करे और बालको को साधु सम्पर्क मे लाने का प्रयत्न करे।

यह कहने की तो आवश्यकता ही नही कि मेरी यह माँग मेरे

लाभ के लिए है। मेरी तो सिर्फ दलाली है। पूजी आपकी ही वढेगी। लाभ आपको और आपकी सन्तान को ही होगा।

भाईयो और बहिनो ! मेरी बात मानो। मेरे शब्द हृदय पर लिख लो। अगली पीढी को धर्म के मार्ग पर लगाओ। इसके लिए जितना प्रयास हो सकता हो, अवश्य करो। धर्म चलाने से चलता है और बढाने से बढता है। तुम अपना प्रधान कार्य यही बना लो कि तुम्हारे बच्चे धर्म की ओर आकर्षित हो। इसके लिए तुम्हे ज्यादा कुछ नही करना है, सिर्फ उन्हे साधुओ के सम्पर्क के लिए प्रेरित करना है। अगर आपने मेरी इतनी बात मान ली तो मैं मान लूंगा कि राजकोट मे चौमासा करना सफल हो गया।

हम चार मास तक तुम्हारा भोजन-पानी खा-पी कर चले जाएँ और तुम व्याख्यान सुन-सुन कर चले जाओ, इतना पर्याप्त नही है। इससे काम नही चलेगा। इतने मात्र से न आपका कर्त्तव्य पूरा होगा और न मेरा।

थोडा चलो पर मजबूत कदमो से चलो। उचित से अधिक तीव्र वेग से फिसल जाने या ठोकर खा जाने की आशका रहती है। एक कवि कहता है—चाल धीमी है तो क्या आएगी मज़िल जरूर, खौफगिर जाने का भी तो तेज़ रफ्तारी मे है। जहाँ का तहाँ जमे रहना और एक कदम भी आगे न बढाना मुर्दापन की निशानी है। अतएव चलो अवश्य, पर दृढता के साथ ही चलो, जिससे कोई खतरा न हो।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र के नौवे अध्ययन मे जिक्र आया है कि नमिराज की परीक्षा के लिए इन्द्र आये। उन्होने नमिराज के सामने

अनेक समस्याएँ उपस्थित की। इन्द्र बोले—आपको साधु बनना था तो कोई बात नही, परन्तु पहले के काम पहले कर लेने चाहिएँ। किला, महल, खाई आदि बनवा कर बाद मे दीक्षा लेते।

तब नमिराज ने उत्तर दिया—

सद्ध नगर किच्चा, तवसवरमग्गल।
खंत्ति निउणपागार, तिगुत्त दुप्पसवय॥
धणु परक्क किच्चा, जीव च इरिय समा।
धिइ च केयण किच्चा, सच्चेण पलिमथए॥

यहाँ पर शास्त्रकार ने श्रद्धा को नगर का रूपक देकर श्रद्धा को सब से अधिक महत्त्व प्रदान किया है। तप और सयम अर्गला हैं। क्षमा प्राकार—परकोटा—है। पराक्रम धनुष है। ईर्यासमिति उसकी डोरी है। धृति पताका है। मगर ये सब श्रद्धा रूप नगर की रक्षा के लिए हैं। इससे श्रद्धा की महत्ता स्वत प्रकट हो जाती है।

वस्तुत धर्म की रक्षा तभी हो सकती है जब श्रद्धा मजबूत हो और श्रद्धा की मजबूती साधुओ की सगति पर निर्भर है।

सज्जनो ! आप अपने बालको को उच्च शिक्षा दिलाने के लिए हजारो रुपये खर्च करके विलायत भेजते हैं, किन्तु हमारे पास आने मे तो कुछ भी खर्च नही करना पडता। फिर उन्हे क्यो नही भेजते ? क्या पेटपालन के लिए प्राप्त की जाने वाली शिक्षा की अपेक्षा आत्मोन्नति की शिक्षा का महत्त्व कम है ? पेट का पालना एक अल्पकालीन आवश्यकता की पूर्त्ति करना है, मगर आत्मोन्नति शाश्वत कल्याण का कारण है। यह जानते हुए भी आज आप लोगो

की धर्मशिक्षा के प्रति जो अरुचि है, उसे देखकर आश्चर्य और खेद होता है ।

शरीर और आत्मा दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। यद्यपि दोनो सयुक्त रूप मे आज उपलब्ध होते हैं, फिर भी दोनो के पार्थक्य मे कोई सदेह नही किया जा सकता। दोनो के गुणो मे बहुत बडा अन्तर है । इस के अतिरिक्त शरीर का अस्तित्व इस जीवन तक ही सीमित है जब कि आत्मतत्त्व अजर, अमर, अविनाशी है—त्रिकाल-स्थायी है। मैं यह नही कहता कि आप शरीर का रक्षण करना त्याग दे, परन्तु शरीर की रक्षा के लिए जितना प्रयत्न करते हैं उस से अधिक आत्मा की रक्षा के लिए अवश्य करना चाहिए । शरीर के लिए आत्मा की उपेक्षा करना विवेकशीलता नही है।

आप को जानना और निश्चय करना चाहिए कि—'मैं शरीर नही,आत्मा हू । मैं जड पदार्थों का पिण्ड नही,अनन्त चिद्स्वरूप गुणो की राशि हूँ। अनन्त और असीम ज्ञानज्योति मेरे अन्दर निहित है। मैं अमर्त्य हूँ, अजर हूँ, अविनाशी हूँ । कालचक्र मेरा कुछ भी नही बिगाड सकता । वह मेरी अखण्ड सत्ता पर प्रहार करने मे असमर्थ है।'

अगर आपको इस प्रकार आत्मश्रद्धा उत्पन्न हो जाय तो आपका जीवन निराला ही हो जाएगा । आज जिस प्रकार शरीरोपयोगी भौतिक पदार्थों की उपासना मे आप सलग्न रहते है, आत्मश्रद्धा होने पर वैसा न होगा। आप आत्मा के हित की भी चिन्ता करेंगे ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रत्येक शरीर मे पृथक्-पृथक् आत्मा है और सब को अपने-अपने कर्मों का फल भोगना

पडता है। अतएव अपने कल्याण के लिए आप ही उत्तरदायी हैं। समग्र विश्व मे एक ही आत्मा नही है कि किसी के धर्म और पुण्य से आप सुखी बन जाएँगे। आत्मा के एकत्व की बात तर्क की कसौटी पर खरी सिद्ध नही होती। इस सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा जा सकता है। परन्तु समय की कमी है। सक्षेप मे इतना ही कहना है कि धर्म को समझो और धर्म पर दृढ रहो। धर्मक्रिया को जडक्रिया समझ कर त्याग दोगे तो आत्मा की दुर्गति होगी। अतएव विवेक के साथ धर्मक्रिया करो। जो विवेक के साथ धर्मक्रिया करते हैं, वही ससार सागर से पार होते हैं।

राजकोट
१६-८-५४

अनन्त आत्मिक ज्योति

अरिहन्त अरिहन्त० ।

धर्मप्रेमी सुखाभिलाषी बन्धुओ तथा बहिनो !

प्रवचन का केन्द्रीभूत विषय आत्मा है। आत्मा को प्रधान लक्ष्य बना कर तत्सम्बधी विषयो का वर्णन भी होता रहता है। ऐसा करना इसलिए भी आवश्यक हो जाता है कि आपके ऊब उठने की सम्भावना रहती है।

आप जानते है कि भगवान् महावीर ने केवलज्ञान से ससार का अवलोकन किया। केवलज्ञान आत्मा की परिपूर्ण विकासप्राप्त शुद्ध चेतना है। उसके अनन्त पर्याय हैं और वे इतने सबल एव सक्षम हैं कि जगत् मे कभी, कही, किसी के द्वारा प्रतिहत नही होते। सूक्ष्म और स्थूल, रूपी और अरूपी, जड और चेतन, भूत, भावी तथा वर्त्तमान— सभी पदार्थ और उनके सभी पर्याय केवलज्ञान मे झलकते है, जैसे निर्मल दर्पण मे सामने रक्खा पदार्थ हो। जगत् मे कोई ऐसा रहस्य नही जो केवलज्ञान का गोचर न हो।

विश्व मे अनन्त पदार्थ है। पुद्गल अनन्त हैं और जीव भी अनन्त हैं। आकाश भी अनन्त और काल भी अनन्त है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और लोकाकाश के असख्य प्रदेश है। इनके त्रैकालिक पर्यायो की सख्या अनन्तानन्त है। पर केवलज्ञानी इन सब को युगपद् स्पष्ट रूप से देखता है।

यह विश्व, जिसका कही ओर-छोर दिखलाई नही देता, न जिसका आदि है और न अन्त है, वस्तुत यह षड् द्रव्यो का ही प्रपच-प्रसार है। छ द्रव्यो के अतिरिक्त कोई सातवाँ पदार्थ न कभी हुआ है, न है और न होगा।

जिसमे गुण और पर्याय हो, उसे द्रव्य कहते है। गुण और पर्याय यद्यपि द्रव्य मे रहते हैं, मगर वास्तव मे वे द्रव्य से भिन्न नही है। वे द्रव्य के ही अश है। जल मे तरग उत्पन्न होती है परन्तु तरग जल से भिन्न नही है, वल्कि जल का ही रूप है। तथापि तरग और जल को पृथक्-पृथक नाम दिये गये है। तरग पानी से उत्पन्न होती है, कुछ काल तक ठहरती है और फिर पानी मे लीन हो जाती है; किन्तु पानी पानी ही वना रहता है, वह ध्रुव है।

इसी प्रकार द्रव्य से पर्याय की उत्पत्ति होती है और किसी समय उसका अन्त भी हो जाता है। मगर द्रव्य शाश्वत है। पर्याय म जिस प्रकार उत्पाद और विनाश होता रहता है, द्रव्य मे नही होता। द्रव्य तीनो कालो मे द्रव्य ही रहता है। द्रव्य का विनाश करने की शक्ति किसी मे नही है। उदाहरणार्थ—जीव द्रव्य है और मनुष्य पर्याय है। मनुष्य सदा मनुष्य नही रहता किन्तु जीव सदा जीव ही रहता है। वह आज मनुष्य है तो कल देव, तिर्यंच या नारक भी हो सकता है, पर जीव कभी अजीव नही होगा।

इसी प्रकार गुण और द्रव्य मे भी अन्तर है। यद्यपि गुण, पर्याय की भाँति अनित्य नही है, वल्कि नित्य होता है, तथापि उसे द्रव्य नही कहा जा सकता। द्रव्य और गुण मे अशी अश का भेद है। द्रव्य अशी है, गुण अश है। गुणो का समूह द्रव्य कहलाता है। जैसे

जीव द्रव्य है और चेतना उसका गुण है। जीव मे चेतना की तरह अनन्त गुण हैं और उन सब का समूह जीव द्रव्य है।

इस प्रकार द्रव्य, गुण और पर्याय मे अपेक्षाकृत भेद होने पर भी तीनो की सत्ता सर्वथा पृथक् नही है।

तो यह समस्त विश्व मूलत छ द्रव्यो का ही प्रसार है, तथापि पर्यायदृष्ट्या इसमे अनन्त पदार्थ है। भगवान् ने अनन्त पदार्थो मे चार बातो को मुख्यता दी है—आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद। इन चारो मे भी आत्मवाद को सर्वप्रथम स्थान दे कर उसकी महत्ता सूचित की है। वास्तव मे आत्मवाद ही सव वादो का आधार है। आत्मा ही सब वादो का ज्ञाता है। उसी मे ज्ञान की शक्ति विद्यमान है। अतएव सर्वप्रथम आत्मा का बोध प्राप्त करना ही उचित है। जो आत्मतत्त्व को समीचीन रूप मे जान लेता है, उसे अन्य कुछ भी जानने की आवश्यकता नही रहती। इसके विपरीत, आत्मा के ज्ञान के अभाव मे अन्य सव पदार्थों का ज्ञान निरुपयोगी है।

भारतवर्ष मे आध्यात्मिक ज्ञान को सदैव महत्ता मिलती रही है। भारतीय दर्शनो का प्रधान प्रतिपाद्य विषय यही रहा है। जितने भी मतमतान्तर स्थापित हुए, सव ने आत्मा को जानने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार आत्मा की खोज के लिए सभी चले हैं, मगर सव अन्त तक नही पहुंच पाये। वास्तविकता यह है कि परिपूर्ण ज्ञान के विना आत्मा को पूर्ण रूप से जानना सम्भव नही है। अतएव केवलज्ञानी ही लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं, अन्य कोई नही।

आत्मदीपक पदार्थों को प्रकाशित करता है, परन्तु अपनी शक्ति के अनुसार। जो दीपक छोटा होता है वह कम प्रकाश करता

है और सीमित क्षेत्र मे ही प्रकाश करता है। गैस का हडा उसकी अपेक्षा अधिक प्रकाश फैलाता है। रेल के एजिन की रोशनी कई मीलो तक फैलती है, कहते हैं बीस-बीस मील से दिखाई देती है। पर वैज्ञानिको ने इतने मात्र से सन्तोष नही किया, वे और भी आगे वढे हैं। पानी के जहाज का प्रकाश और भी दूरगामी होता है। फिर भी सूर्य का जो प्राकृतिक प्रकाश है, वह असाधारण है। उसकी तुलना किसी भी कृत्रिम प्रकाश से नही हो सकती। वैसा प्रकाश न तो मानव उत्पन्न कर सका है और न कर सकेगा। सूर्य मे जो प्रकाश है, वह उसकी निधि है। वह प्रकाश के उत्कर्ष की चरमसीमा है। भौतिक प्रकाश का विकास सूर्य तक सीमित है।

नेत्रो से दिखाई देने वाला यह दीपक-प्रकाश एव सूर्य का प्रकाश भौतिक है—पौद्गलिक है। जैन शास्त्रो मे इसे पुद्गल द्रव्य का पर्याय कहा है। इसी प्रकार छाया, अन्धकार, धूप और शब्द भी पुद्गल रूप हैं। कई लोग अन्धकार को प्रकाश का अभाव मान कर अभावस्वरूप ही मानते है, पर उनको मान्यता सही नही है। जैसे प्रकाश मे रूप है उसी प्रकार अन्धकार मे भी रूप है। और जहाँ रूप होता है वहाँ स्पर्श भी होता है। अन्धकार मे शीतस्पर्श का अनुभव होता है। अतएव अगर प्रकाश अभावरूप नही है तो अन्धकार को भी अभावरूप नही माना जा सकता। अन्यथा कहने वाले यह भी कह सकते हैं कि अन्धकार द्रव्य है और प्रकाश अन्धकार का अभाव-रूप असत् पदार्थ है। परन्तु ये दोनो ही एक द्रव्य के दो भिन्न-भिन्न पर्याय हैं।

भौतिक पदार्थो को प्रकाशित करने के लिए वैज्ञानिक आज हाथ धोकर पीछे पडे हैं। वे नये नये और उग्र-उग्रतर प्रकाश का

आविष्कार कर रहे हैं। उसके लिए करोडो रुपया खर्च करते हैं और अपने प्राण तक दे देते हैं। जो वैज्ञानिक लोग सरकार की ओर से नये-नये आविष्कार कर रहे हैं उन्हे रुपयो-पैसो की चिन्ता नही होती, क्योकि सरकार मुक्त हस्त से उनकी सहायता करती है। ऐसे लोग ही निश्चिन्त एव एकाग्र भाव से काम कर सकते हैं जिनके दिमाग मे आर्थिक चिन्ता का प्रवेश न हो। जो आये दिन अजीविका के लिए चिन्तित रहते हैं और जिनको नोन, तेल, लकडी को चिन्ता परेशान किये रहती है, वे कोई महत्त्वपूर्ण काम नही कर सकते।

भौतिक विज्ञान का जो इतना चामत्कारिक विकास हो सका है, उसका प्रधान कारण यही है कि उसके अन्वेषक वैज्ञानिको को सब प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। सरकार वैज्ञानिको के परिवार का पूरा उत्तरदायित्व अपने सिर ले लेती है और वे पूर्ण एकनिष्ठा से, एकान्त मे बैठ कर सोचते और प्रयोग करते रहते है। आविष्कार करना ही उनकी साधना होती है।

चिन्तको को एकान्त की अनिवार्य आवश्यकता होती है। एकान्त के बिना एकाग्रता नही होती और एकाग्रता के विना चिन्तन नही होता। चिन्तन के अभाव मे किसी महत्त्वपूर्ण फल की उपलब्धि नही की जा सकती। सक्षेप मे, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारो अनुकूल हो तब नया आविष्कार किया जा सकता है।

भौतिक आविष्कार के लिए भी इन्द्रियसयम की आवश्यकता होती है। व्यभिचारी और विषयासक्त मनुष्य कोई आविष्कार नही कर सकता। उसकी शक्ति बिखर जाती है। जैसे तेल जल जाने पर दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार वीर्यनाश हो जाने पर विचार-शक्ति नष्ट हो जाती है। कई लोग समझते है कि ब्रह्मचर्य सिर्फ

साधुओ के लिए ही है, मगर ऐसा समझने वाले भयकर भ्रम मे हैं। प्रत्येक मनुष्य के लिये जो दीर्घ और सुखमय जीवन व्यतीत करना चाहता है, ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है। कहा है—

मरण बिन्दुपातेन जीवन बिन्दुधारणात्।

वीर्य का विनाश करना जीवन को नष्ट करना है और वीर्य की रक्षा करना जीवन की रक्षा करना है।

पुरातन भारतीय जीवनपद्धति मे जीवन के चार विभाग किये गये थे—(१) ब्रह्मचर्याश्रम (२) गृहस्थाश्रम (३) वानप्रस्थाश्रम और (४) सन्यासाश्रम। इनमे ब्रह्मचर्याश्रम विद्याध्ययन का काल है। पहले के बालक गृहस्थी से पृथक् होकर कलाचार्यों के आश्रम मे रहते और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्याभ्यास करते थे। आश्रम या गुरुकुल का जीवन प्राय बडा उत्तम होता था। विद्यार्थी वहाँ सादा, सयत और स्वावलबी जीवन बिताया करते थे। वहाँ उनकी सर्वतोमुखी शिक्षा पर ध्यान दिया जाता था। मानसिक, बौद्धिक, हार्दिक एव शारीरिक शिक्षा मिलकर सर्वतोमुखी शिक्षा कहलाती है। इन चारो अगो का विकास होने पर ही जीवन का सही विकास होता है। एकागी शिक्षा से मानव-जीवन लँगडा हो जाता है। खेद है कि आज यह भारतीय परम्परा नष्ट हो चुकी है और इसी कारण लगडी शिक्षा का दौरदौरा है और इसीलिए आज का जीवन सर्वाङ्ग समृद्ध नही रह गया है।

प्राचीन कालीन गुरुकुलो मे ब्रह्मचर्य पर बडा बल दिया जाता था। अतएव ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति होने पर जब मनुष्य गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होता था तो उसका शरीर बलवान् और तेजस्वी होता था।

हाथो-पैरो आदि की विशेष आकृति से ही मनुष्य का निर्माण

अनुसार कुछ भी नही कर सकता। ऐसी स्थिति मे ईश्वर अनीश्वर हो जाएगा और कर्म ही ईश्वर ठहरेंगे, क्योकि अन्तिम सत्ता उन्ही की है।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि रचना करने वाला निराकार नही साकार होना चाहिए। ईश्वर को सर्वव्यापी स्वीकार किया जाता है, परन्तु सर्वव्यापी मे हलनचलन रूप क्रिया नही हो सकती और अगर उसे नियत देशव्यापी माना जाय तो एक जगह बैठ कर सब जगह रचना नही कर सकता। जितने भी कारीगर हैं वे एक जगह रह कर सब जगह कार्य नही कर सकते।

इसी प्रकार रचना करने वाला मूर्त्तिमान् होना चाहिए, अर्थात् हाथ, पैर, आंख आदि होने चाहिएँ। परन्तु ईश्वरवादी कहते हैं—

बिन पद चले सुने बिन काना,
कर बिन कर्म करे विधि नाना।
आननरहित सकल रस भोगी,
बिन वाणी वक्ता बड योगी॥

ईश्वर बिना पैर चलता है और बिना कान सुनता है। बिना हाथ नाना प्रकार के काम करता है, बिना मुख सब रसो का भोक्ता है और वाणी के बिना ही वक्ता है।

इस कथन मे सचाई इतनी ही है कि जो वास्तव मे ईश्वर अर्थात् सर्वज्ञ होता है, वह इन्द्रियो के होते हुए भी उनका उपयोग नही करता। उसका नामकर्म के उदय से बना हुआ शरीर विद्यमान है, उसमे कान, आंख, नाक, जीभ और स्पर्शनेन्द्रिय हैं, तथापि वस्तु

को जानने के लिए उनका आश्रय लेने की आवश्यकता नही होती।

भगवतीसूत्र मे कुछ प्रश्नोत्तर आये है, जो इस प्रकार हैं—

प्रश्न—क्या छद्मस्थ मनुष्य झालर आदि के शब्द सुनता है ?

उत्तर—हाँ, सुन सकता है, यदि कर्णेन्द्रिय ठीक हो और श्रुतविज्ञान का आवरण न हो।

प्रश्न छद्मस्थ स्पृष्ट शब्द सुनता है या अस्पृष्ट ?

उत्तर--स्पृष्ट शब्द सुनता है, अस्पृष्ट शब्द नही सुनता।

प्रश्न—वह आरगत शब्द सुनता है या पारगत ?

उत्तर—छद्मस्थ आरगत शब्द सुनता है, पारगत नही। अर्थात् पास के सुनता है, दूर के नही।

प्रश्न—क्या केवली सर्वज्ञानी भी इसी प्रकार के शब्द सुनते है ?

उत्तर—नही, केवली निरावरण होने के कारण इन्द्रियो का प्रयोग नही करते। यद्यपि नामकर्म के उदय से इन्द्रियाँ उनकी वनी है, तथापि वे उनसे काम नही लेते।

हम लोग कान मे शब्द आने पर ही सुन सकते है और आँखो के सामने, परिमित दूरी पर, रूपी पदार्थ होने पर ही देख सकते हैं। जब हम किसी पदार्थ को देखते हैं ता काला, नीला, पीला आदि सामान्य रूप मे ही देख पाते है। यह नही देख पाते कि यह एक गुण काला, दो गुण काला, सख्यात गुण काला, असख्यात गुण काला या अनन्त गुण काला है। यही वात स्पर्श, रस, गध आदि के विषय मे है। परन्तु केवलज्ञानी परिपूर्ण ज्ञानी होने के कारण सब कुछ ठीक रूप मे ही जानते-देखते हैं।

नाक के साथ गध के पुद्गलो का स्पर्श हो, जीभ के साथ रसपुद्गलो का सयोग हो और स्पर्शनेन्द्रिय के साथ स्पर्श का ससर्ग हो, तभी हम उन्हे जान सकते हैं। परन्तु केवली डिब्बी मे बन्द पदार्थ के रूप, रस, गध और स्पर्श को भी जान सकते हैं। हमारा ज्ञान भ्रमपूर्ण अथवा विपरीत भी हो सकता है, परन्तु केवली का ज्ञान अभ्रान्त और समीचीन ही होता है। वे मिठाई मे रही हुई अव्यक्त खटाई को भी जानते हैं। वे क्षेत्र और काल की दूरी पर विजय प्राप्त कर चुके हैं। कोई भी वस्तु हो, कितनी भी दूर हो और कही भी उसकी सत्ता रही हो, सम्बद्ध हो या असम्बद्ध हो, अवश्य ही उनके ज्ञान का विषय बन जाती है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद छद्मस्थ जीवो के लिए है। केवली के लिए सभी पदार्थ प्रत्यक्ष हैं। जगत् मे जिन वस्तुओ की सत्ता है वे सब केवलज्ञान मे प्रतिबिम्बित होती हैं। जो केवलज्ञान मे प्रतिबिम्बित नही होता, उसकी सत्ता भी नही है।

लालटेन को चिमनी की जरूरत है। दीपक का तेल-बत्ती चाहिए। बिजली को लट्टू अपेक्षित है। परन्तु सूर्य को किसी उपकरण की आवश्यकता नही है। इसी प्रकार केवली को भी इन्द्रिय आदि किसी उपकरण की आवश्यकता नही है।

तो क्या केवलज्ञान सूर्य के समान है ? नही, अनन्त सूर्य मिल कर भी केवलज्ञान की बराबरी नही कर सकते। सूर्य का प्रकाश कितना ही प्रखर क्यो न हो, आखिरकार जड है। वह स्थूल पदार्थों को एक सीमा के भीतर ही प्रकाशित कर सकता है। भूत-भविष्यत्कालीन पदार्थों तक तो उसकी पहुँच ही नही है। परन्तु जैसा कि अभी कहा गया था, केवलज्ञान चैतन्यरूप होने के कारण असीम है। उसकी ज्योति कही भी और कभी भी, प्रतिरुद्ध नही होती।

इस प्रकार सर्वज्ञ परमात्मा शब्दादि विषयो को बिना उपकरण जान सकता है, परन्तु शरीर आदि की रचना बिना उपकरण नही कर सकता।

जैसा कि पूर्व मे कहा गया था, अगर ईश्वर कर्म के अनुसार सृष्टि रचना करता है तो घूमघाम कर कर्मवाद का ही आश्रय लेना पडता है। जहाज का उडा पक्षी जब कोई आश्रय नही देखता तो इधर-उधर घूम कर फिर जहाज पर ही आ जाता है।

मिथ्यात्व की भूमिका का त्याग जब होता है तो सम्यक्त्व की भूमिका प्राप्त होती है और यही आत्मदर्शन की प्रथम भूमिका है। यह भी एक विश्रामस्थान है, परन्तु अन्तिम विश्रामस्थान नही है। प्रथम गुणस्थान से छूटकर चौथे गुणस्थान मे पहुँचने पर आत्मा को पहली बार विश्रान्ति प्राप्त होती है। वहाँ ज्ञान और दर्शन की दोनो पाखें मजबूत हो जाती है। इन पाखो के सहारे मनुष्य चौदहवे गुणस्थान तक उडता है। तत्पश्चात् चारित्र की भी पूर्णता का बल प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

मोक्ष प्राप्त होने पर आत्मा अपने स्वभाव के अनुसार ऊर्ध्वगति करता है। उसकी ऊर्ध्वगति मे धर्मास्तिकाय निमित्त कारण है। जहाँ तक यह निमित्त कारण मिलता है वहाँ तक आत्मा की गति जारी रहती है और धर्मास्तिकाय का अन्त होने पर गति का भी अवरोध हो जाता है। धर्मास्तिकाय लोकाकाश–के भीतर ही है, बाहर नही, अतएव मुक्तात्मा लोकाकाश के अन्तिम भाग मे पहुँच कर स्थित हो जाता है। शास्त्र मे उसे 'लोगमत्थपत्थो' अर्थात् लोक के मस्तक—अग्रभाग—पर स्थित कहा गया है।

मुक्त जीव की अधोगति या तिर्यक-गति न होकर ऊर्ध्वगति ही

क्यो होती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव का स्वभाव ही ऊर्ध्वगमन करना है। जबतक जीव कर्मों के भार से गुरु (भारी) बना रहता है तबतक वह अपने स्वभाव के अनुकूल ऊर्ध्वगमन करने मे असमर्थ रहता है, परन्तु जब कर्मकृत गुरुत्व नष्ट हो जाता है तो वह लघुभूत होकर ऊर्ध्वगमन करता है। जैसे मिट्टी के लेप वाला तूंबा पानी के तल भाग मे जा बैठता है, परन्तु लेप हट जाने पर ऊपर आ जाता है, उसी प्रकार कर्मलेप के हटने से जीव ऊपर चला जाता है।

अथवा जैसे एरड का वीज डोडी के बन्धन से मुक्त होकर ऊपर की ओर उछलता है, उसी प्रकार कर्मबध का उच्छेद होने पर जीव ऊर्ध्वगति करता है। कर्मबध का छेद होने से उत्पन्न होने वाली यह गति बधच्छेदगति कहलाती है। ससारी जीव ने गतियाँ तो बहुत की, एक बार नही अनन्त बार इधर-उधर गमनागमन किया, पर बधच्छेदगति नही की। की होती तो मोक्ष प्राप्त हो जाता। इस गति के पश्चात् फिर कोई गति करना शेष नही रहता।

अज्ञानी ससारी जीव अज्ञानाकाश मे उडते हैं और कभी इतने नीचे गिरते है कि अनन्त काल तक भी नही उठ पाते। निगोद मे पडे-पडे अनन्त काल व्यतीत हो जाता है। यह मिथ्यात्व का ही प्रताप है। मिथ्यात्वी की दृष्टि मे दोष होता है। जैसे पित्त ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति को मीठा दूध भी कटुक लगता है, उसी प्रकार मिथ्या-दृष्टि को सत्य असत्य प्रतीत होता है और असत्य, सत्य जान पडता है। जब दर्शनमोह की प्रवलता कम होती है तव सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होती है और वह दृष्टि सीधी होती है।

एक सेठ जी वम्बई या कलकत्ता गये। कुछ समय तक वहाँ

रह कर जब घर लौटे तो उन्हे पीलिया रोग हो गया। परन्तु उन्हे अपने रोग का पता नही था। घर आने पर सब घर वाले मिले। फिर उनकी पत्नी भी मिली। उसने अत्यन्त प्रेम के साथ स्वागत किया। मगर सेठ अपनी पत्नी को पहचान न सका। वह बोला—मैं नही जानता तुम कौन हो ? कहाँ से, किसलिए आई हो ?

स्त्री बोली—पचो की साक्षी से पाणिग्रहण करके लाये हो, फिर ऐसा क्यो कहते हो ?

सेठ—तुम मुझे छल नही सकती।

दर्शक—सेठजी, ठीक तो कह रही हैं सेठानी जी ! यह आपकी ही पत्नी हैं।

सेठ—तुम सभी पाखडी मालूम होते हो। सब ने मिल कर कोई षड्यत्र तो नही किया है ? मेरी पत्नी श्यामा थी और यह पीली है। यह मेरी पत्नी कैसे हो सकती है ?

इसके पश्चात् सेठ ने उसे बाहर निकल जाने को कहा। लोगो ने समझाया, पर वह मानने को तैयार न होता था। यह झगडा देखने-सुनने को बहुत-से लोग जमा हो गए, क्योकि लोगो को लडाई-झगडा बडा प्रिय होता है। कहा है—

मिजाजी इश्क के बदले, हकीकी इश्क हो जाता।
न रहती नाव चक्कर मे, यह बेडा पार हो जाता॥

प्रीति दो प्रकार की होती है। अथवा यो कहना चाहिए कि प्रेम के दो रुख होते है—आत्मा की ओर और विषयभोगो की ओर। इसी को उर्दू मे हकीकी इश्क और मिजाजी इश्क कहते है। सिनेमा आदि देखना मिजाजी इश्क है। ससार मे प्राय इसी का प्रसार देखा

जा रहा है। अगर इस इश्क का रुख बदल जाय और जो प्रेम विषयो के प्रति है, वह धर्म की ओर हो जाय तो बेडा पार हो जाता है।

जैसे व्यभिचारी पत्नी का मान नही कर सकता, उसी प्रकार मोहग्रस्त जीव शुद्ध आत्मा का मान नही कर सकता। स्वदार-सतोषी ही स्वस्त्री का मान कर सकता है। जो राग-रग मे सराबोर है, विषयो के विष से मूर्छित है और भोगकामना से जिसकी बुद्धि कलुषित हो गई है, वह आत्मा की ओर ध्यान नही देता और इस कारण आत्मा को नही जान सकता।

हाँ, तो जब पति और पत्नी मे यह झगडा हो रहा था, वहाँ अचानक एक वैद्यराज जा पहुँचे। उन्होने पूछा— यह क्या झगडा चल रहा है ? तब लोगो ने हसते हुए कहा —बडा विचित्र मामला है। सेठजी अपनी पत्नी को भूल गये हैं और उसे घर से निकाल देना चाहते हैं।

वैद्य गभीर और परोपकारपरायण था। उसने गभीर दृष्टि से सेठ को देखा तो पता चला कि इसके चेहरे पर दुष्टता, दुर्जनता या कपट का भाव नही है, बल्कि वह भी परेशानी अनुभव कर रहा है। यह देख कर उसने सेठ जी से बातचीत की। अतत सेठ जी का चेहरा देख वह समझ गया कि सेठ को पीलिया रोग है, अतएव इसकी दृष्टि मे विकार उत्पन्न हो गया है।

यह सब सोचकर वैद्य ने सेठ से कहा —इस स्त्री को घर से बाहर निकालने का जिम्मा मैं लेता हूँ, मगर उससे पहले तुम मेरी दवा खाओ।

सेठ ने दवा खाई और तीन ही पुडियो से उसका रोग दूर हो गया। रोग दूर होने पर श्यामा अब श्यामा दिखाई देने लगी। वह अपनी पत्नी को पहचान गया। उसका भ्रम दूर हो गया। अब उसे कोई भी बहका नही सकता।

इस उदाहरण के आधार पर हमे प्रकृत विषय को समझना है। सेठ के समान यह आत्मा है। जब इसे पीलिया के समान मिथ्यात्व का रोग होता है तब यह आत्मा को आत्मा नही मानता। परन्तु जब वैद्य के समान गभीर और परोपकारी गुरु का सयोग मिलता है और वह सम्यक्त्व रूपी औषध देता है, तब वह स्व-आत्मा को पहचान पाता है।

आत्मा के स्वरूप को ठीक तरह न समझ सकने के कारण ही विधाता या जगत्कर्त्ता ईश्वर की कल्पना करनी पडती है। मगर सृष्टि की रचना, पालन और सहार का काम ईश्वर के जिम्मे सौप देने से ईश्वर का स्वरूप किस प्रकार विकृत हो जाता है, उसमे कितनी बुराइयाँ आ जाती है, इस बात को भुला दिया जाता है। अगर ईश्वर ने सचमुच ही सृष्टि रची होती तो हमे वैसा मानने मे क्या पशोपेश था? मगर इसमे ईश्वर का स्वरूप गडबड मे पड जाता है।

अगर ईश्वर रचना करता है तो किसी को उच्च और किसी को नीच क्यो बनाता है? किसी को धनी और किसी को निर्धन, किसी को सुखी और किसी को दुःखी बनाने का क्या कारण है? कर्मानुसार रचना करने की बात कह देने से काम नही चलता। आखिर यह भी देखना चाहिए कि ईश्वर किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए जगत् की रचना करता है? कहावत है—'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।' अर्थात् मूर्ख मनुष्य भी प्रयोजन के विना प्रवृत्ति

नही करता, तब ईश्वर तो ज्ञानवान् है। उसकी रचना मे प्रवृत्ति बिना प्रयोजन कैसे हो सकती है ? प्रयोजन दो ही हो सकते हैं—स्वार्थ की पूर्त्ति या परोपकार। अगर यह मान लिया जाय कि ईश्वर स्वार्थ से प्रेरित होकर सृष्टिरचना करता है तो वह कृतकृत्य और पूर्ण नही होगा बल्कि ससारी जीवो के ही समान हो जाएगा। अगर परोपकार की भावना से रचना करता है तो सारे ससार को सुखी, सुन्दर और रमणीय ही बनाना चाहिए। मगर यहाँ तो दु ख, दरिद्रता, दुर्भाग्य आदि सैकडो बातें ऐसी देखी जाती हैं जिन से मालूम होता है कि यह सष्टिरचना किसी दयालु की नही हो सकती।

ईश्वर को निष्कर्म माने तो उसे इन्द्रिय आदि उपकरण नही मिल सकते और उनके विना वह रचना नही कर सकता। सकर्मा मानें तो वह ईश्वर न रह कर साधारण ससारी जैसा हो जाता है।

सचाई यह है कि जगत् की कभी किसी ने रचना नही की है। यह जगत् अनादि और अनन्त है—सदा से हैं और सदैव रहेगा। कदाचित् सृष्टि का आरम्भ माना जाय तो यह मानना होगा कि उस से पहले किसी भी वस्तु की सत्ता नही थी—सब कुछ महाशून्यमय था। किन्तु शून्य से कभी किसी वस्तु का निर्माण नही होता। ऐसा न कभी हुआ, न होगा। शून्य से वस्तु बनती होती तो रोटी के लिए आटे की, आभूपणो के लिए सोने की, मकान के लिए ईंट-पत्थरो की और फर्नीचर के लिए लकडी आदि की क्या आवश्यकता थी ? उपादान के विना कार्य की उत्पत्ति होना असभव है। अगर कहा जाय कि उपादान पहले-से मौजूद थे और उनके आधार से ईश्वर ने सृष्टि रची है, तो प्रश्न होता है कि वे उपादान कहाँ से आये ? उन उपादानो के भी कोई

उपादान होंगे और उनके भी कोई उपादान होगे । इस प्रकार परम्परा से जगत् मे पदार्थों की सत्ता अनादिकालोन माननी पडेगी ।

इस प्रकार जब युक्ति के आधार पर विचार किया जाता है तो जगत् की अनादिता ही सिद्ध होती है । वास्तव मे षड्द्रव्यमय इस जगत् का न कोई निर्माता है और न सहर्त्ता है। यह अनादि और अनन्त है। प्रकृति द्वारा और विभिन्न मानवो आदि के द्वारा इसमे रूपान्तर होता रहता है। जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियो मे उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जगत् परिणामी-नित्य है।

आज के वैज्ञानिक नवीन-नवीन खोजें कर रहे हैं परन्तु उनके दिमाग मे भौतिकता का भूत घुसा है। इस कारण जड पदार्थों की शक्तियाँ हमारे सामने आ रही हैं। वे आत्मवाद को भूल गये हैं। जिस दिन विज्ञान अध्यात्मवाद की ओर अपने चरण रक्खेगा वही दिन जगत् के लिए मगल-दिन होगा। उस दिन शान्ति और सच्ची समता की प्रतिष्ठा होगी ।

जिस विज्ञान के साथ आध्यात्मिकता का मेल नही है, वह विज्ञान कितना ही विकसित क्यो न हो जाय, जगत् के लिए सुखप्रद, शान्तिप्रद और मगलकर नही हो सकता । उसकी बदौलत मनुष्य जाति की मुसीबते ही अधिक बढ सकती है।

यह न समझिये कि जड पदार्थों के मुकाबिले आत्मा मे कोई शक्ति नही है। आत्मा की अनन्त शक्तियाँ है और उनके सामने जड-शक्ति किसी गिनती मे नही है। परन्तु आत्मा उस सेठ के समान अपने स्वरूप को भूल गया है। लोगो को आत्मा पर विश्वास नही है। आत्मा की शक्ति का पता तब चलता है जब 'पोलिया' रोग नष्ट हो जाता है।

सज्जनो ! आत्मा मे अखिल विश्व को जानने वाला ज्ञान विद्यमान है, असाधारण ज्योति उसका स्वरूप है, परन्तु ज्ञानावरण कर्म रूपी मेघपटल को हटाये बिना वह ज्योति चमक नही सकती। मेघपटल प्रचड वायु से हटता है। यहाँ अरिहन्त भगवन्त के गुणगान की प्रचण्ड वायु चाहिए। जब भक्ति का तूफान आपके अन्त करण मे उठेगा और वह प्रचण्ड रूप धारण करेगा तो ज्ञानावरण के बादल बिखर जाएँगे।

अरिहन्त भगवान् का भावपूर्वक गुणगान करने के लिए दृढ आत्मविश्वास उत्पन्न होना चाहिए। अगर पूर्ण आत्मविश्वास के साथ आप भगवान् की भक्ति करेगे तो निस्सन्देह आपकी आत्मा पर चढा आवरण हट जाएगा और आत्मा की ज्योति चमक उठेगी।

सज्जनो, मेरे मस्तिष्क मे अनेक बातें आती हैं, मगर उन्हे कहने मे विचारना पडता है। कभी ऊपर-ऊपर तैरता हूँ अर्थात् साधारण रूप से कथन करता हूँ और कभी गहरा गोता भी लगाता हूँ। मैं अपनी ट्रेनिंग भूल न जाऊ इस विचार से कभी-कभी गहरा उतर जाता हूँ।

अन्त मे यही कहना है कि आप अपने स्वरूप को पहचानें— आत्मा की अनन्त शक्ति को जाने। भगवान् अरिहन्त का गुणगान करे। ऐसा करेंगे तो ससार-सागर से पार हो जाएँगे।

राजकोट
१७-८-५४

कर्म-विपाक

अरिहन्त अरिहन्त० ।

सज्जनो और बहिनो !

कल इस बात पर प्रकाश डाला गया था कि शरीर आदि की रचना कर्म का कार्य है । समग्र सृष्टि या उसके अगभूत किसी पदार्थ की रचना करने मे अथवा शरीर आदि की रचना करने मे ईश्वर का कोई हाथ नही हो सकता । ईश्वर का दर्जा बहुत ऊँचा और असाधारण है । सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग और कृतकृत्य परमात्मा ही ईश्वर का पद प्राप्त करता है । ऐसे ईश्वर का सृष्टि के निर्माण आदि की झझटो मे पडना सभव नही है । किसी को नरक मे और किसी को स्वर्ग मे भेजना, किसी को एक और किसी को दूसरी सजा देना ईश्वर के लिए योग्य नही है ।

ईश्वर अगर सर्वशक्तिमान् है और दयालु भी है तो वह जीवो को पापकर्म करने से रोक देगा, परन्तु ऐसा नही करेगा कि पहले वह पापकर्म करने दे, रोकने की शक्ति होने पर भी रोके नही और फिर उसी पापकर्म के लिए दड दे । कोई भी विवेकशील पिता अपने पुत्र को जानते-बूझते गडहे मे नही गिरने देता । ईश्वर को जब परमपिता के रूप मे स्वीकार किया जाता है तो वह इस प्रकार की निर्दयता प्रदर्शित नही करेगा । अतएव ईश्वर का यह काम नही है ।

दुनिया के काम, ईश्वर का हस्तक्षेप किये विना ही, दूसरे-दूसरे तरीको से चल रहे हैं।

जीव के शरीर का निर्माण नामकर्म के उदय से होता है। शास्त्र मे आठ प्रकार के कर्म माने गए हैं। उन आठ कर्मों मे एक नामकर्म भी है, जिसका दायरा काफी लम्बा-चौडा है।

कार्मण शरीर आठ कर्मों का कोश-खजाना है। ज्ञानावरणीय आदि आठो कर्म कार्मणशरीर के ही रूपान्तर है। कर्म एक प्रकार के पुद्गल है, जिन्हे मेटर, प्रकृति, माया या अदृष्ट आदि शब्दो से भी कहा जाता है। वैदिक परम्परा मे माया या प्रकृति कहते है, उर्दू मे मादा कहते हैं और अगरेजी मे मेटर कहते हैं। यद्यपि इनके सूक्ष्म भाव मे किंचित् अन्तर हो सकता है, तथापि स्थूल रूप मे सव कर्म के ही नाम हैं।

पुद्गल का मूल स्वरूप परमाणु है। परमाणुओ के सयोग से स्कध वनता है। मिलना और विछुडना पुद्गल की स्वाभाविक परिणति है। जव दो परमाणुओ का सयोग होता है तो द्व्यणुक का अर्थात् द्विप्रदेशस्कध का निर्माण होता है।

पुद्गल के चार रूप हैं—(१) स्कध (२) देश (३) प्रदेश और (४) परमाणु। इन्हे समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए—लड्डू एक स्कध है। वह परमाणुओ के सयोग से स्कध के रूप मे परिणत हुआ है। उसका आधा भाग देश है। लड्डू के साथ जुडा हुआ परमाणु प्रदेश कहलाता है और वही जब स्कध से अलग हो जाता है तो परमाणु कहलाता है।

अभिप्राय यह है कि स्कध स्थूल अवस्था है। देश उसमे

छोटा और प्रदेश तथा परमाणु उससे छोटे हैं। परमाणु पुद्गल का वह सूक्ष्मतम अश है, जिस का कोई भाग नही हो सकता। वह-अन्तिम अश है। वह इतना सूक्ष्म होता है कि चर्मचक्षुओ के द्वारा देखा नही जा सकता। उसे शस्त्र छेद नही सकता, आग जला नही सकती, पानी गला नही सकता। उसके दो भाग नही हो सकते।

यद्यपि शरीर के उपादान कारण औदारिक वर्गणा के पुद्गल हैं, तथापि कार्मणवर्गणा के पुद्गलो की सहायता के बिना शरीर का निर्माण नही हो सकता। अनन्तानन्त परमाणुओ का पिड रूप स्कध ही कर्मरूप मे परिणत हो सकता है। दो, तीन सख्यात, असख्यात या अनन्त परमाणु कर्मरूप मे परिणत नही होते। वे आत्मा पर सुख दु खादि का अपना असर डालने मे समर्थ नही हो सकते। उदाहरणार्थ—औषध जितनी मात्रा मे आवश्यक है उतनी ही मात्रा मे हो तो असर करती है। उससे कम मे काम चल जाय तो कौन अधिक खावे और खर्च करे? इस का अर्थ यह न समझे कि थोडी औषध मे शक्ति नही है। अगर थोडी मे शक्ति न हो तो ज्यादा मे कहाँ से आ जाय? एक डोरे मे बाँधने और गतिनिरोध करने की शक्ति विद्यमान है, परन्तु किसी मनुष्य को रोकने के लिए जितनी चाहिए उतनी नही है। जब बहुत-से डोरे इकट्ठे होते हैं तो वे बाँधने मे समर्थ हो जाते हैं। प्रत्येक डोरे मे शक्ति विद्यमान है और सगठन होने पर वह अधिक हो जाती है। बिखरी शक्ति केन्द्रित हो जाती है। इसी प्रकार द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी या असख्यातप्रदेशी स्कध आत्मा को नही बाँध सकते परन्तु जब वह अनन्तानन्त होते है तो आत्मा के बन्धन के कारण बन जाते है।

कर्म आत्मा को बाँधते है और आत्मा कर्मों को बांधती है।

दोनो परस्पर बधे हुए हैं। इस पारस्परिक बन्धन से दोनो के स्वरूप मे विकार आ जाता है। दोनो अपने-अपने स्वरूप से च्युत हो जाते हैं। यह कर्म का ही प्रभाव है कि आत्मा की अनन्त शक्तियाँ आज आच्छादित हो रही हैं। परमात्मा और आत्मा मे तात्विक दृष्टि से कुछ अन्तर नही है, तथापि आज जो महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है, उसका एकमात्र कारण कर्म का पडा हुआ प्रभाव ही है। जब यह प्रभाव दूर हो जाता है तो आत्मा की निजी शक्तियाँ शुद्ध स्वरूप मे चमक उठती हैं। तब आत्मा परमात्मा कहलाने लगता है।

कर्म आत्मा पर किस प्रकार असर डालते हैं, इस विषय मे कई प्रकार के प्रश्न किये जाते है। कर्मशास्त्र मे उन प्रश्नो का समुचित समाधान किया गया है। यहाँ उस विस्तार मे जाना सभव नही है, तथापि कुछ मोटी-मोटी बातो पर विचार कर लेने से आप को लाभ ही होगा।

सब से पहले जो प्रश्न उपस्थित होता है, वह यह है कि आत्मा अमूर्त्त और कर्म मूर्त्त हैं। ऐसी स्थिति मे दोनो का सयोग किस प्रकार हो सकता है? जैसे सर्दी और गर्मी से आकाश ठडा और गर्म नही होता, क्योकि वह अमूर्त्त है, उसी प्रकार कर्मो से आत्मा प्रभावित नही हो सकता।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि आत्मा स्वभाव से अमूर्त्त है, मगर शरीर के साथ सम्पर्क होने से ससारी आत्मा कथचित् मूर्त्त है। अत कर्म के साथ आत्मा का जो सबन्ध है, वह मूर्त्त का अमूर्त्त के साथ सबन्ध नही, वल्कि मूर्त्त का मूर्त्त के साथ ही सबन्ध है, क्यो कि सशरीर आत्मा को ही कर्मबन्ध होता है, अशरीर सिद्ध आत्मा को नही।

दूसरी बात यह है कि मूर्त्त का अमूर्त्त पर प्रभाव पड ही नही सकता, यह एकान्त भी ठीक नही है। जोव की चेतनाशक्ति अमूर्त्त है और मदिरा मूर्त्त है। फिर भो मदिरा के प्रभाव से चेतनाशक्ति प्रभावित होकर विकृत हो जाती है।

कहा जा सकता है कि आत्मा सशरीर और मूर्त्त तो तव बना जब उसका कर्म के साथ सयोग हुआ, पर कर्मसयोग होने से पहले तो आत्मा अमूर्त्त ही था। फिर कर्मसयोग कैसे हो गया ?

इस सबध मे यही कहना पर्याप्त है कि आत्मा का कर्म के साथ अनादि से सबध है। ऐसा कोई काल नही जब आत्मा कर्म से बद्ध नही था और फिर बद्ध हो गया हो। यद्यपि कोई एक कर्म अनादि काल से अबतक आत्मा के साथ नही चला आ रहा है, फिर भी कर्म की सन्तति अनादिकालोन है। वोज और वृक्ष का परम्परा की भाँति द्रव्यकर्म और भावकर्म (राग-द्वेप) का अनादिकालोन कार्यकारण भाव चला आ रहा है। इस कार्यकारणभाव का सदा के लिए अन्त हो जाना ही मोक्ष है। एक वार आत्मा जव निष्कर्म हो जाती है तो फिर कभी उसका कर्म के साथ सयोग नही होता।

कर्म के विषय मे दूसरी शका यह की जाती है कि वह जड है, पुद्गल है। जड कर्म जीव को सुख-दुख आदि फल नही दे सकता। जड को क्या पता कि अमुक को अमुक प्रकार का फल देना चाहिए ? एक मनुष्य ने पुण्य किया है तो उसे सुख की प्राप्ति होती है और दूसरे ने पाप किया है तो उसे दुख प्राप्त होता है। इस प्रकार पुण्य का फल सुख और पाप का फल दुख होना चाहिए, यह विवेक जड को नही हो सकता। इसने पुण्य किया या पाप किया है, जड को तो यह भी नही मालूम हो सकता।

जो जज यही नही जानता कि अपराध क्या है, किस अपराध का क्या फल होना चाहिए और अमुक व्यक्ति ने अपराध किया है या नही किया है, वह कैसे समुचित न्याय कर सकता है ? दडदाता चेतन होना चाहिए। चेतन के अतिरिक्त दूसरा कोई भी न्यायासन पर बैठने का अधिकारी नही है।

इस प्रकार विचार करने से प्रतीत होता है कि जड कर्मों के द्वारा जीवो को फल देने की बात युक्तिसगत नही हो सकती। यह दूसरो की शका है।

सज्जनो ! आप लोगो को अपने सिद्धान्त का पता होना चाहिए। ज़माना चारित्र की दृष्टि से पिछडा है परन्तु तर्कवाद मे आगे बढा है। आज तर्क के आधार पर ही किसी से कोई बात मनवाई जा सकती है।

जैन-सिद्धान्त बहुत उच्च कोटि का है। निष्पक्ष अन्य मतावलम्बी विद्वान् मुक्तकठ से उसकी प्रशसा करते हैं। परन्तु खेद की बात है कि जैनसिद्धान्त के अनुयायी स्वय अपने सिद्धान्त से अपरिचित रहते हैं। वे उसे समझने का प्रयत्न नही करते।

कल के भाषण मे मैंने जिन विषयो पर प्रकाश डाला था, उनके सम्बन्ध मे रात मे आने वालो से प्रश्न किये कि—आज आपने क्या सुना था ? आज के भाषण मे क्या भाव प्रकट किये गये थे ? मुझे जो उत्तर मिलना चाहिए था उस रूप मे नही मिला। मैंने फिर उन लोगो को इसी बात पर बल दिया कि इस समय के प्रवचन मे आप जो सुनते हैं, उस पर चिन्तन-मनन करना चाहिए। कोई बात स्पष्ट समझ मे न आवे या शका रह जाय तो पूछना चाहिए। ऐसा

करने से आप सिद्धान्त से परिचित होगे। आपके ज्ञान की वृद्धि होगी और किसी के सामने निरुत्तर होने का प्रसग नही आएगा।

किसान एक बार ही खेत मे हल चला कर नही रह जाता। वह बार-बार जमीन को जोतता है। ऐसा करने से जमीन कोमल और उपजाऊ हो जाती है। इसी प्रकार आपको भी वाचना, पृच्छना और अनुप्रेक्षा आदि करना चाहिए। नया-नया पढना वाचना कहलाता है। पढे हुए मे जो बात समझ मे न आवे उसे विशेषज्ञो से पूछना पृच्छना है। पूछताछ कर समझे हुए विषय पर स्वय मनन करना अनुप्रेक्षा है। पुन पुन उसकी आवृत्ति करना परिवर्त्तना है और फिर दूसरो को उस विषय का बोध देना धर्मोपदेश कहलाता है। भगवान् ने स्वाध्याय के यह पाँच भेद बतलाये है। स्वाध्याय की बडी महिमा है। उसकी गणना अन्तरग तप मे की गई है।

कई लोग अहकार के वशीभूत होकर पूछने मे सकोच करते है। परन्तु ऐसा नही होना चाहिए। जबतक केवलज्ञान न हो जाय तबतक सभी विद्यार्थी हैं। कोई छद्मस्थ यह दावा नही कर सकता कि उसे सभी कुछ मालूम है। जिनेन्द्र भगवान् का श्रुत महासमुद्र के समान है। उसमे जो जितना गहरा गोता लगाता है, उसे उतनी ही अधिक ज्ञानप्राप्ति होती है। श्रुत ज्ञान का अहकार करना किसी को भी उचित नहीं है। हमे अपनी अल्पज्ञता को विनम्रतापूवक स्वीकार करना चाहिए और नि सकोच भाव से दूसरो के अध्ययन, मनन और चिन्तन से लाभ उठाना चाहिए। किसी ने गाढ श्रम करके जानकारी प्राप्त की है और आपको सहज ही उसका लाभ मिल सकता है तो क्यो चित रहते हो ?

गौतम स्वामी चार ज्ञानो के धारक थे। उन्होने भी अनेक

जो जज यही नही जानता कि अपराध क्या है, किस अपराध का क्या फल होना चाहिए और अमुक व्यक्ति ने अपराध किया है या नही किया है, वह कैसे समुचित न्याय कर सकता है ? दडदाता चेतन होना चाहिए। चेतन के अतिरिक्त दूसरा कोई भी न्यायासन पर बैठने का अधिकारी नही है।

इस प्रकार विचार करने से प्रतीत होता है कि जड कर्मों के द्वारा जीवो को फल देने की बात युक्तिसगत नही हो सकती। यह दूसरो की शका है।

सज्जनो ! आप लोगो को अपने सिद्धान्त का पता होना चाहिए। ज़माना चारित्र की दृष्टि से पिछडा है परन्तु तर्कवाद मे आगे बढा है। आज तर्क के आधार पर ही किसी से कोई बात मनवाई जा सकती है।

जैन-सिद्धान्त बहुत उच्च कोटि का है। निष्पक्ष अन्य मतावलम्बी विद्वान् मुक्तकठ से उसकी प्रशसा करते हैं। परन्तु खेद की बात है कि जैनसिद्धान्त के अनुयायी स्वय अपने सिद्धान्त से अपरिचित रहते हैं। वे उसे समझने का प्रयत्न नही करते।

कल के भाषण मे मैंने जिन विषयो पर प्रकाश डाला था, उनके सम्बन्ध मे रात मे आने वालो से प्रश्न किये कि—आज आपने क्या सुना था ? आज के भाषण मे क्या भाव प्रकट किये गये थे ? मुझे जो उत्तर मिलना चाहिए था उस रूप मे नही मिला। मैंने फिर उन लोगो को इसी बात पर बल दिया कि इस समय के प्रवचन मे आप जो सुनते हैं, उस पर चिन्तन-मनन करना चाहिए। कोई बात स्पष्ट समझ मे न आवे या शका रह जाय तो पूछना चाहिए। ऐसा

करने से आप सिद्धान्त से परिचित होगे। आपके ज्ञान की वृद्धि होगी और किसी के सामने निरुत्तर होने का प्रसग नही आएगा।

किसान एक वार ही खेत मे हल चला कर नही रह जाता। वह वार-वार जमीन को जोतता है। ऐसा करने से जमीन कोमल और उपजाऊ हो जाती है। इसी प्रकार आपको भी वाचना, पृच्छना और अनुप्रेक्षा आदि करना चाहिए। नया-नया पढना वाचना कहलाता है। पढे हुए मे जो वात समझ मे न आवे उसे विशेषज्ञो मे पूछना पृच्छना है। पूछताछ कर समझे हुए विषय पर स्वय मनन करना अनुप्रेक्षा है। पुन पुन उसकी आवृत्ति करना परिवर्त्तना है और फिर दूसरो को उस विषय का वोध देना धर्मोपदेश कहलाता है। भगवान् ने स्वाध्याय के यह पॉच भेद वतलाये है। स्वाध्याय की वडी महिमा है। उसकी गणना अन्तरग तप मे की गई है।

कई लोग अहकार के वशीभूत होकर पूछने मे सकोच करते है। परन्तु ऐसा नही होना चाहिए। जवतक केवलज्ञान न हो जाय तवतक सभी विद्यार्थी है। कोई छद्मस्थ यह दावा नही कर सकता कि उसे सभी कुछ मालूम है। जिनेन्द्र भगवान् का श्रुत महासमुद्र के समान है। उसमे जो जितना गहरा गोता लगाता है उसे उतनी ही अधिक ज्ञानप्राप्ति होती है। श्रुत ज्ञान का अहकार करना किसी को भी उचित नही है। हमे अपनी अल्पज्ञता को विनम्रतापूवक स्वीकार करना चाहिए और नि सकोच भाव से दूसरो के अध्ययन, मनन और चिन्तन से लाभ उठाना चाहिए। किसी ने गाढ श्रम करके जानकारी प्राप्त की है और आपको सहज ही उसका लाभ मिल सकता है तो क्यो वचित रहते हो ?

गौतम स्वामी चार ज्ञानो के धारक थे। उन्होने भी अनेक

बार भगवान् के समक्ष उपस्थित होकर प्रश्न किये और तत्त्व का निर्णय किया। उनकी तुलना में हम किस विसात मे हैं ? फिर भी अहकार के कारण जो लोग पूछने मे सकोच करते हैं, वे नादान हैं और तत्त्वज्ञान से वचित रह जाते हैं।

कोई भी छद्मस्थ ऐसा दावा नही कर सकता कि उसे किसी प्रकार की शंका ही नही है। अगर वह अपनी शका को किसी विशेषज्ञ के सामने व्यक्त नही करता और ज्यो की त्यो वनाये रखता है तो वह सशयशील बन जाएगा। कहा है—

सशयात्मा विनश्यति।

जैसे तैल समाप्त होने पर दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के पर्याय कम होते-होते सशयशील का समकित रूपी दीपक बुझ जाता है।

चाँदी, सोने, गेहूँ, चना आदि का भाव पूछने मे आपके अहकार को ठेस नही लगती। सकोच का अनुभव भी नही होता। उसे जानने के लिए अखबार मगवाते हो और रेडियो सुनते हो। अधिकाश लोग बाज़ार भाव जानने के लिए ही अखबार खरीदते और पढते है। इस प्रकार दुनियादारी की वस्तुओ के लिए तो बाज़ार मे घूमते फिरते हैं, मगर आत्मज्ञान की वृद्धि के लिए किसी ज्ञानवान् से पूछने मे शर्म आती है। सिनेमा देखने मे, होटल मे खाने-पीने मे, जुआ खेलने मे और इसी प्रकार के दूसरे अनुचित कृत्य करने मे शर्म नही आती, मगर धर्म की बात पूछने मे शर्म आती है।

कोई साधु जी ग्रीष्म ऋतु मे विहार करके आ रहे थे। मार्ग मे किसी वृक्ष के नीचे बैठ कर जल पीने लगे। गर्मी मे चलने से वे थक गये थे, अतएव वृक्ष की छाया मे थोडी देर सुस्ताने लगे। उसी

मार्ग से एक पथिक निकला और वह आगे बढ गया। वह उसी गाँव जा रहा था, जहाँ साधु को पहुँचना था। जब पथिक गाँव के निकट पहुँचा तो कुछ भक्तो ने, जो साधु की प्रतीक्षा कर रहे थे, उससे पूछा—क्या हमारे गुरु जी आ रहे हैं? पथिक ने उत्तर दिया—हाँ, तुम्हारे गुरुजी नदी मे पानी पी रहे थे।

यह उत्तर सुन कर कई लोगो को शका हो गई कि हमारे जैन साधु तो नदी तालाब आदि का कच्चा पानी नही पीते हैं, यह यह कहता है, वे नदी मे पानी पी रहे थे।

सज्जनो! पवन रोका जा सकता है पर बात रोके नही रुकती। जरा-सी देर मे बिजली के वेग की तरह सारे गाँव मे यह बात फैल गई कि गुरुजी ने नदी मे पानी पिया है! लोगो ने मिल कर निश्चय कर लिया कि साधु के आने पर नमस्कार न किया जाय क्योकि उन्होने अपना नियम भग किया है।

थोडी देर बाद साधुजी आये तो किसी भी भक्त ने उन्हे वन्दन-नमस्कार नही किया। भक्तो का यह आश्चर्यजनक रुख देख कर साधुजी सोच-विचार मे पड गये। उनकी समझ मे नही आया कि किस कारण से लोग ऐसा व्यवहार कर रहे हैं।

आज तो लोग यह जानते हुए भी कि अमुक साधु स्वार्थी है, साधु के आचार-विचार मे रहित है और उसमे साधुता का लक्षण नही है, उसे नमस्कार करते हैं और उसकी बडी प्रशसा करते हैं। इसके विपरीत, शुद्धाचारी साधु के पास कई लोग फटकते भी नही है। जो गडा दे तावीज दे, अक बता दे, सट्टा बतला दे, उसके पास भागे भागे जाते हैं और जो आत्मज्ञान की बातें बतलाता है, उसके पास जाना पसन्द नही करते।

बार भगवान् के समक्ष उपस्थित होकर प्रश्न किये और तत्त्व का निर्णय किया। उनकी तुलना में हम किस विसात मे हैं ? फिर भी अहकार के कारण जो लोग पूछने मे सकोच करते हैं, वे नादान हैं और तत्त्वज्ञान से वचित रह जाते हैं।

कोई भी छद्मस्थ ऐसा दावा नही कर सकता कि उसे किसी प्रकार की शका ही नही है। अगर वह अपनी शका को किसी विशेषज्ञ के सामने व्यक्त नही करता और ज्यो की त्यो बनाये रखता है तो वह सशयशील बन जाएगा। कहा है—

सशयात्मा विनश्यति।

जैसे तैल समाप्त होने पर दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के पर्याय कम होते-होते सशयशील का समकित रूपी दीपक बुझ जाता है।

चाँदी, सोने, गेहूँ, चना आदि का भाव पूछने मे आपके अहकार को ठेस नही लगती। सकोच का अनुभव भी नही होता। उसे जानने के लिए अखबार मगवाते हो और रेडियो सुनते हो। अधिकाश लोग बाजार भाव जानने के लिए ही अखबार खरीदते और पढते है। इस प्रकार दुनियादारी की वस्तुओ के लिए तो बाजार मे घूमते फिरते हैं, मगर आत्मज्ञान की वृद्धि के लिए किसी ज्ञानवान् से पूछने मे शम आती है। सिनेमा देखने मे, होटल मे खाने-पीने मे, जुआ खेलने मे और इसी प्रकार के दूसरे अनुचित कृत्य करने मे शर्म नही आती, मगर धर्म की बात पूछने मे शर्म आती है।

कोई साधु जी ग्रीष्म ऋतु मे विहार करके आ रहे थे। मार्ग मे किसी वृक्ष के नीचे बैठ कर जल पीने लगे। गर्मी मे चलने से वे थक गये थे, अतएव वृक्ष की छाया मे थोडी देर सुस्ताने लगे। उसी

मार्ग से एक पथिक निकला और वह आगे बढ गया। वह उसी गाँव जा रहा था, जहाँ साधु को पहुँचना था। जब पथिक गाँव के निकट पहुँचा तो कुछ भक्तो ने, जो साधु की प्रतीक्षा कर रहे थे, उससे पूछा—क्या हमारे गुरु जी आ रहे हैं? पथिक ने उत्तर दिया—हाँ, तुम्हारे गुरुजी नदी में पानी पी रहे थे।

यह उत्तर सुन कर कई लोगो को शका हो गई कि हमारे जैन साधु तो नदी तालाब आदि का कच्चा पानी नही पीते है, यह यह कहता है, वे नदी मे पानी पी रहे थे।

सज्जनो! पवन रोका जा सकता है पर बात रोके नही रुकती। ज़रा-सी देर मे बिजली के वेग की तरह सारे गाँव मे यह बात फैल गई कि गुरुजी ने नदी मे पानी पिया है! लोगो ने मिल कर निश्चय कर लिया कि साधु के आने पर नमस्कार न किया जाय क्योकि उन्होने अपना नियम भग किया है।

थोडी देर बाद साधुजी आये तो किसी भी भक्त ने उन्हें वन्दन-नमस्कार नही किया। भक्तो का यह आश्चर्यजनक रुख देख कर साधुजी सोच-विचार मे पड गये। उनकी समझ मे नही आया कि किस कारण से लोग ऐसा व्यवहार कर रहे है।

आज तो लोग यह जानते हुए भी कि अमुक साधु स्वार्थी है, साधु के आचार-विचार से रहित है और उसमे साधुता का लक्षण नही है, उसे नमस्कार करते हैं और उसकी बडी प्रशसा करते हैं। इसके विपरीत, शुद्धाचारी साधु के पास कई लोग फटकते भी नही हैं। जो गडा दे तावीज दे, अक बता दे, सट्टा बतला दे, उसके पास भागे भागे जाते हैं और जो आत्मज्ञान की बातें बतलाता है, उसके पास जाना पसन्द नही करते।

साधु सम्मेलन ने नियम वनाया है कि साधुओ को ज्योतिष का प्रयोग नही करना चाहिए, अर्थात् ज्योतिष के द्वारा भाव-ताव आदि न वतलाए जाएँ। पर गुरुजी एकान्त मे पत्रा लेकर ले जाते हैं, और अपने प्रेमपात्र भक्त की कामना पूरी करते हैं। उनका वतलाया भविष्य कहाँ तक सच्चा होता है अथवा नही होता, यह अलग वात है, परन्तु शास्त्र विरुद्ध यह व्यवहार चल रहा है। ऐसा करने वाले साधु अपराधी हैं और जो गृहस्थ पूछते है वे भी अपराधी है। श्रावक का उत्तरदायित्व कम नही है। भगवान् ने श्रावक को भी श्रमणसघ मे सम्मिलित कर के जो गौरव प्रदान किया है वह इसीलिए कि उसे साधु के सयमनिर्वाह मे साधक-सहायक होना चाहिए। परन्तु आज तो वहुत-से श्रावक कहलाने वाले लोग साधु-धर्म मे साधक वनने के वदले बाधक वनते है। स्वय डूवते और साधु को भी डुवाते है।

कदाचित् मान लिया जाए कि गृहस्थ श्रावक दुनियादारी मे रचा-पचा होने के कारण, लोभ और तृष्णा के वशीभूत होकर साधु से ऐसी वाते पूछता है, परन्तु साधु को इस झझट मे पडने की क्या आवश्यता है ? उसने घर-द्वार छोड कर सिर मुडवाया है सो क्या इसीलिए ? अगर दुनियादारी के झगडो मे फँसे रहना है तो फिर साधु बनने की क्या आवश्यकता है ? साधु-सस्था को कलकित करना कोई साधारण अपराध नही है।

आप को भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि साधु छोकरा, छोकरी या रुपया-पैसा नही दे सकता। इन सव वस्तुओ की प्राप्ति कर्मानुसार ही होती है। अतएव इनके लिए साधु के पास मत जाओ। साधु को इस झगडे मे मत डालो। ऐसे कृत्य साधुधर्म के विरुद्ध हैं और शास्त्र मे इनका स्पष्टरूप मे निषेध किया गया है। कहा है —

जे लक्खण सुविणति अगविज्ज च जे पउजति ।

न हु ते समणा वुच्चति एव आयरिएहिमक्खाय ।।

अर्थात् जो साधु होकर लक्षग, स्वप्न या अगविद्या का प्रयोग करते हैं, वे सच्चे श्रमण नही कहलाते, ऐसा धर्माचार्यो ने कहा है।

वे सच्चे साधु नही है जो गृहस्थ के पथ पर चलते है। सयम, तप, सरलता, चारित्र आदि साधु के गुण है। सरलतापूर्वक निर्जरा के लिए किये जाने वाले तप से अनायास ही लब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, मगर साधु लब्धियो की प्राप्ति के लिए तप नही करता। दशवैकालिकसूत्र मे कहा है —

नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो पर लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ।

अर्थात्—इस लोक सबधी या परलोक सवन्धी लाभ के लिए तपस्या नही करनी चाहिए और न यश-कीर्त्ति के लिए तपस्या करनी चाहिए। सिवाय निर्जरा के किसी भी अन्य प्रयोजन के लिए तपस्या करना साधु के लिए योग्य नही है।

तपस्या कर्मनिर्जरा का असाधारण कारण है। जन्म-जन्मान्तर के कर्मों की निर्जरा तपस्या से ही होती है। पूर्ण निर्जरा न होने तक ही ससार है। समस्त कर्मों की पूरी निर्जरा हुई कि वही मोक्ष है। यही साधु की समग्र साधना का एकमात्र लक्ष्य है। साधु की जितनी भी क्रियाएँ है, सब कर्मों का क्षय करने के लिए ही हैं। अतएव उसे सवर और निर्जरा के ही मार्ग पर चलना चाहिए।

गृहस्थो को भी चाहिए कि वे साधु को सयम के पथ से च्युत करने का प्रयत्न न करे और यह समझ ले कि अन्तराय तोडने से ही धन की प्राप्ति होगी।

पजाब प्रान्त मे कसूर नामक शहर मे एक श्रावक थे। नाम था उनका हरजसराय। वह सस्कृत और प्राकृत भाषाओ के ज्ञाता थे। उन्होने तीन ग्रन्थो की रचना की है—देवरचना, देवाधिदेवरचना और साधुगुणमाला। उनकी रचनाएँ उच्चकोटि की हैं, उन्हे हरएक नही समझ सकता। सस्कृत और प्राकृत भाषा मे उन्होने कविताएँ भी लिखी है।

इस प्रकार हरजसराय को ज्ञान की प्राप्ति तो अच्छी हुई थी परन्तु धन प्राप्ति के अन्तराय को न तोड सकने के कारण उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नही थी। घर मे हमेशा पैसे की तगी रहती थी। फिर भी वह चिन्तारहित थे। कई लोग अर्थाभाव से पीडित होकर धर्म-कर्म छोड बेठते हैं और धर्म को अपने कष्टो का कारण बतलाने लगते है। कहते है—मैं तो धर्म करने से दु खी हो गया !

मनुष्य का यह एक बडा भ्रम है। धर्म कदापि किसी कष्ट का कारण नही हो सकता। कोई भी मनुष्य धर्म से दु खी नही होता, पूर्वकर्मोदय से दु खी होता है। शास्त्र मे कहा है—'धम्मो मगल-मुक्किट्ठ।' अर्थात् धर्म सर्वश्रेष्ठ मगल है। धर्म से अमगल होना उसी प्रकार असभव है, जिस प्रकार चन्द्रमा से अग्नि की वर्षा होना असभव है। धर्म से सब प्रकार के कष्टो का निवारण होता है। अत-एव जब कोई कष्ट आ पडे तो विशेष रूप से धर्म का आचरण करना चाहिए, न कि धर्म का परित्याग कर देना चाहिए। आग लगने पर पानी अधिक डालना पडता है।

किसी भी प्रकार का सकट आने पर सम्यग्दृष्टि सोचता है—पूर्वकाल मे धर्म का आचरण करने मे जो प्रमाद किया है, उसके

फलस्वरूप ही यह सकट आया है। इस सकट का अन्त धर्माचरण से ही होगा। इस प्रकार विचार करके सम्यग्दृष्टि समभाव के साथ कष्टो का सामना करता है। वह जानता है कि रोने-धोने मे, हाय-हाय करने से और आकुल-व्याकुल होने से सकटो की भीषणता बढ जाती है, वे अधिक दु खप्रद हो जाते हैं और नवीन कर्मो का बध होता है। अनाथी मुनि और सनत्कुमार ने जिस प्रकार समभाव से दु ख सहन किया, उसी प्रकार का समभाव धारण करने से भविष्य उज्ज्वल, मगलमय और सुखमय बनता है।

कई लोग मौलवी के पास भागे-भागे जाते हैं और उससे बच्चे के मुख मे फूंक मरवाते हैं। वे समझते हैं कि ऐसा करने से उनका बच्चा सब सकटो से सुरक्षित हो जाएगा। यह कैसी विडम्बना है। जो लोग मासभक्षण करते है और अडे खाते है, उनके मुख से अशुद्ध हवा के सिवाय शुद्ध हवा कैसे आ सकती है ?

गर्मी अधिक पडती है तो बच्चो की तो बात क्या, बडो-बडो को भी बडी देर तक नीद नही आती। उसकी पूर्त्ति प्रभात के समय होती है। जब प्रभात की शीतल वायु बहती है तो बच्चे छ -सात बजे तक सोते रहते है और अपनी नीद पूरी करते हैं। माता जाग जाती है, पर नीद के कारण बच्चा जागता नही है। बस, यही देख कर माता के सिर पर वहम सवार हो जाता है। वह पडौसिन को बुलाती है और यह निश्चय कर लिया जाता है कि बच्चे को कुछ हो गया है ! बच्चा बोलता नही है न ! न मालूम देवी का प्रकोप हो गया है।

—'कल क्या खाया था ?'

'खीर खाई थी।'

'कहाँ खेलता रहा ?'

'पीपल के पेड के नीचे।'

बस, अब सदेह ही क्या रहा ! खीर का खाना और पीपल के नीचे खेलना इस बात के प्रबल प्रमाण है कि बच्चे पर देवी का असर हो गया है।

सज्जनो ! खीर तो खाने की ही वस्तु है, ईंट-पत्थर नही खाये जाते, और पीपल के नीचे छाया होती है, अतएव बच्चो का पीपल के नीचे खेलना भी कोई अस्वाभाविक बात नही है। मगर अपढ माता इन बातो पर विचार नही करती और झाडा देने वाले के पास भागी जाती है।

बच्चे की नीद उडी और वह जाग गया। झाडा लगाने वाले ने कहा—देखो, मेरे झाडा लगाने से जाग गया।

इस प्रकार की कुशकाओ से अनर्थ हो जाता है। धर्मात्मा जन कष्ट आने पर अधिक धर्म करते है। दुख का मूल कारण कर्म है और उसे नष्ट करने के लिए धर्म ही अमोघ औषध है। यह समझना भ्रमपूर्ण है कि जड कम सुख-दुख नही दे सकते। जड का अर्थ यही है कि उसमे चेतनाशक्ति नही है, यह अर्थ नही है कि उसमे कोई शक्ति ही नही है। जड पदार्थों मे विभिन्न प्रकार के स्वभाव हैं और शक्तियाँ भी है। मिर्च मे मुँह जला देने का स्वभाव है, नीम के रस मे कटुकता का स्वभाव है, जहर मे प्राणान्त कर देने का स्वभाव है, मिश्री मुँह मीठा कर देती है। कहाँ तक कहा जाय, जड पदार्थो की शक्तियो का हमे पद-पद पर अनुभव हो रहा है। उससे कौन मुकर सकता है ? इसी प्रकार कर्मों मे भी नाना प्रकार के स्वभाव

मौजूद हैं और आत्मा की सहायता पाकर वे भिन्न-भिन्न प्रकार का फल देते हैं।

मदिरा को यह ज्ञान नही है कि इस पुरुष ने मुझे पिया है, अत मैं इसे बेभान कर दूँ। जहर नही जानता कि इसने मेरा भक्षण किया है, अतएव मैं इसे मार डालूँ, फिर भी जहर खाने वाला मर जाता है। इसी प्रकार जो जैसे कर्मों का बँध करता है, उसे वैसे ही फल की प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार कर्मों को ही सासारिक सुख और दु ख का कारण समझना चाहिए। ससार के अनन्तानन्त जीवो की क्षण-क्षण मे बदलने वाली मानसिक क्रियाओ का हिसाब-किताब रखने वाला कोई चित्रगुप्त या अन्य व्यक्ति नही है। यह हिसाब रखना किसी के लिए सभव नही है। कर्मसिद्धान्त को स्वीकार किए बिना सारी व्यवस्था बिगड जाती है। अतएव कर्मसिद्धान्त की बारीकियो को समझने का प्रयत्न करो और जब कोई भी सकट आवे तो उसे अपने ही कर्मों का फल समझ कर धैर्य एव समभाव से सहन करो।

आपको कर्मवाद का जो पाठ पढाया जा रहा है वह बीमारी के वक्त काम मे लेना चाहिए। कष्ट आने पर लोग धर्म से विमुख हो जाते हैं। परन्तु उन्हे समझना चाहिए कि अग्नि का तीव्र ताप सहन करने के पश्चात् ही स्वर्ण शुद्ध होता है।

कई लोग कहते हैं कि पापी तो मोटरो मे सैर करते हैं और शानदार वायु-अनुकूलित बगलो मे मोज उडाते है, और धर्मात्मा दु खी होकर मारे-मारे फिरते है। परन्तु सोचना चाहिए कि परीक्षा पढने वाले की होती है गदहे चराने वाले की नही होती। फूल को कष्ट सहन करना पडता है, काटे को नही। इत्र फूलो का बनता

है। फूलो की ही माला बनाई जाती है और जब वह माली की सुई की नौंक सहन करते है तभी बादशाह के गले से लग पाते है।

दु.ख से घबडाना ही दु खानुभूति का कारण है। दु ख मनुष्य की सहनशीलता की परीक्षा है। जो वीर पुरुष दु ख के साथ दृढता-पूर्वक जूझता है, वही दु ख पर विजय प्राप्त कर सकता है। दु ख परीक्षा है और परोक्षा के अवसर पर घबडाना उचित नही है। जिनका पाठ कच्चा होता है, उन्ही को घवराहट होती है।

श्रावक हरजसराय धर्म के ज्ञाता थे। वह दरिद्र होने पर भी दु खी नही थे। कहा करते थे—धन तो कई बार मिला पर धर्म नही मिला। धर्म ही उत्तम वैभव है, जिसके मिलने पर ससार का सार मिल जाता है।

चार प्रकार की सुखशय्या वतलाई गई है, जिसमे प्राप्त वस्तु मे सतोष करना भी एक सुखशय्या है। लोभी को सुख की प्राप्ति नही होती। उसके पास कितनी ही सुख-सामग्री क्यो न हो, वह तृष्णा की आग मे जलता ही रहता है। एक वस्तु की इच्छा पूरी हुई या नही हुई कि दूसरी अनेक इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और वे उसे परेशान करती है। अतएव लोभी मनुष्य को कभी शान्ति नही मिलती। शान्ति का वास सन्तोप मे है, तृष्णा मे नही। कहा है—

सतोषामृततृप्ताना, यत्सुख शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

अर्थात् जो पुरुष सन्तोप रूपी सुधा का पान करके तृप्त हो चुके हैं और इस कारण जिनका चित्त शान्त हो गया है, वह सुख

धन के लोभी और इधर-उधर मारे-मारे फिरने वाले लोगो को कहाँ नसीब हो सकता है ?

हाँ, तो एक वार हरजसराय के नगर मे मुनि पधारे। उनका व्याख्यान हो रहा था और श्रोता मन लगा कर सुन रहे थे। मुनि उस श्रावक हरजसराय का मकान देख चुके थे। उसकी हालत देख कर सरागसयमी मुनि के मन मे अनुकम्पा उत्पन्न हुई। व्याख्यान मे कुछ ऐसा ही प्रकरण छिड गया। गृहस्थ के मतलव की वात आ गई। शास्त्र मे अक्षय भडार भरा है—सभी कुछ मौजूद है। पुण्यवान् के लिए 'सकल पदारथ हैं जग माही।'

किसन लाल जी महाराज के पहले पूज्य श्री नन्दलाल जी के साथ चम्पालाल जी म० का उदयपुर मे चौमामा था।

पजाव के श्री छोटेलाल जी महाराज का चौमासा भी वही था। श्री चम्पालाल जी और छोटेलाल जी महाराज दोनो जगल के लिए पहाड पर गये तो आपने अर्थात् चम्पालाल जी महाराज ने छोटेलाल जी म० से कहा—यह वूटी है जो लोहे पर गिर जाय तो सोना वन जाय।

अभिप्राय यह है कि साधु दुनियादारी के झगडो मे पडता नही है, यद्यपि दुनिया मे वस्तुओ की नास्ति नही है।

मालवा मे पीपलिया नामक एक स्टेशन है। वहाँ पाकिस्तान से भाग कर एक सिक्ख आया। उसे जगल मे स्लेट-पेंसिल वनाने की खान मिल गई। खान ता पहले भी थी और दूसरे लोग भी वहाँ रहते थे, परन्तु अन्तराय टूटने से उसे मिल गई। पाकिस्तान से आना उसके लिए लाभजनक हो गया।

तो उन मुनि जी ने कहा—श्रावक जी, यह पाठ ध्यान से सुनो। उन्होने अपनी यह बात तीन बार दोहराई।

श्रावक ने कहा—महाराज, सुना है। पहले वाचा भी है। इसका मतलब भो जानता हूँ। शास्त्र मे सभी कुछ है। परन्तु मेरे अनुकूल कर्म का उदय नही है। आपकी कृपा के लिए अनुगृहीत हूँ, परन्तु ऐसा सबोधन न करे। मेरे निमित्त से आपके सयम मे दोष लगे, यह मैं नही चाहता। लक्ष्मी तो आती और चली जाती है। वह सीता, द्रौपदी या राजोमती नही है। स्वभाव से ही चपला—चचला है। वेश्या के समान है। पुण्यवान् के पास चली जाती है और पुण्य क्षीण होने पर छोड जाती है। गुरुदेव! आप इसके लिए आलोचना कीजिए।

राजकोट के श्रावको! ध्यान से सुनो और विचार करो। तुम्हे ऐसा कोई मिल जाय तो क्या हरजसराय के समान निस्पृहता प्रदर्शित कर सकोगे? मगर सच्चे श्रावक का यही आदर्श है।

लोभ-लालच का त्याग करना वहुत कठिन है। इसके आगे ऋषि-मुनि भी हार मान वैठते है। लोग साधु को प्रत्यक्ष देखते हुए भी नमन नही करते और ढोगी-दभी के चरणो मे सिर झुकाते है। 'आडम्बरेण पूज्यते लोक' अर्थात् आज सद्गुणो की तो पूछ नही है, ढोग की पूजा होती है। असलो के ग्राहक कोई विरले मिलते है, इमीटेशन के ग्राहक बहुत है।

श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह साधु के प्रति विनम्र होता हुआ भी अगर उनकी कोई त्रुटि देखे तो स्पष्ट कह दे। सद्भावनापूर्वक उनका दोष उन्हे वतलावे। सारणा-वारणा होती रहे तो जिनमार्ग दूपित न हो। परस्पर मे साधु श्रावक के और श्रावक साधु के धर्म-

पालन मे सहायक बनें। यही चतुर्विध सघ की स्थापना का उद्देश्य है।

श्रावक हरजसराय ने कहा—यह दोनो घर का दिवाला निकालने की बात है। मुझे कर्मसिद्धान्त पर विश्वास है। लाभान्त-राय कर्म का क्षयोपशम होने से द्रव्य की अनायास ही प्राप्ति हो जाती है और यदि वह न हुआ तो दिन-रात भागदौड करने पर भी कोई लाभ नही होता। यह एक ऐसा तथ्य है जो दुनिया मे सर्वत्र देखा जा सकता है।

स्वार्थ, दुर्जनता आदि कई कारणो से लोग साधु सतो को भी झूठा कलक लगा देते हैं। ऐसे समय विवेकशील लोगो का कर्त्तव्य है कि वे सत्य की खोज करें, वास्तविकता की जाँच करें और पूछताछ करके शका का निवारण करे।

नदी मे साधु ने पानी पिया, यह बात उस गाँव मे फैल गई। जब तक इसका निर्णय न होगया, भ्रम बना ही रहा। अवसर आने पर एक साधु ने श्रावक से कहा—मिथ्या बात का प्रचार क्षय के कीटाणुओ की तरह बहुत होता है। तब श्रावक ने कहा—आप के विषय मे भी बात फैली है कि आपने नदी मे पानी पिया है। यह बात एक विश्वासपात्र व्यक्ति ने कही है। परन्तु कहाँ तक सत्य या असत्य है, यह नही कह सकता।

श्रावक की बात सुनकर साधु समझ गये कि यहाँ के लोगो ने वन्दन-नमस्कार नही किया, इसका कारण यही मिथ्या प्रचार है।

आखिर जब छानबीन की गई तो पता चला कि जिस नदी का पानी पीने की बात कही गई है, उसमे तो पानी ही नही है। वह सूखी पडी है। महाराज ने पेड के नीचे बैठ कर अपने पात्र का पानी पिया है। जिस व्यक्ति ने यह बात फैलाई थी, उसे बुलाया गया तो

उसने कहा—मैंने तो महाराज को पानी पीते देखा था। सोचा—नदी का पानी होगा। मैंने नदी का पानी लेते और पीते नही देखा।

लोगो ने अपनी भूल स्वीकार की और मुनियो का यथोचित विनय न करने के लिए पश्चात्ताप किया।

तो अभिप्राय यह है कि जब किसी विषय मे शका उत्पन्न हो तो उसे हृदय मे छिपा कर नही रखना चाहिए, बल्कि उचित रूप से प्रकट करके उसकी यथार्थता-अयथार्थता का निर्णय कर लेना चाहिए।

बात कर्मों की चल रही थी। कर्म जड हैं तो उनमे फल देने की शक्ति किस प्रकार हो सकती है, यह मैं सक्षेप मे बतला चुका हूँ। यह भी कह चुका हूँ कि ज्ञान अलग है और शक्ति अलग है। जड मे ज्ञान नही, यह सत्य है, परन्तु शक्ति नही, यह कहना या समझना मिथ्या है। हम लोगो के शरीर पर सुख-दुख का जो असर होता है, वह जडकृत ही है। पुद्गल का पुद्गल पर प्रहार होता है और सयोग के कारण आत्मा को उस सुख-दुख की अनुभूति होती है। मिस्री को मालूम नही कि मैं मीठी हूँ। उसे यह भी ज्ञान नही कि मैं खाने वाले का मुँह मीठा कर देती हू अथवा मुझे ऐसा करना चाहिए। तथापि मिस्री से मुँह मीठा हो जाता है। यह उसकी शक्ति है।

जहर खाने वाले को कौन फल देता है? क्या ईश्वर फल देने के लिए आता है? नही।

मैं वढाऊ ज्योति अजन चाहता न कदापि है,
किन्तु सेवन से दृगो की शक्ति वढती आप है।

जड पदार्थो मे भी अपनी-अपनी शक्तियाँ विद्यमान है। ईश्व के निमित्त के बिना ही जहर खाने वाला जहर की शक्ति से म जाता है। इसी प्रकार अशुभ कर्मों मे दु ख देने की और शुभ कर्मों सुख देने की शक्ति है। जैसे जहर मुख मे डाले बिना फल नही देत उसी प्रकार कर्म भी योग और कषाय से ग्रहण किये बिना फल नह देते। एटमबम लाखो को मार डालता है, परन्तु उसका प्रयोगकर्त्त मनुष्य है। कर्मों का प्रयोगकर्त्ता भी आत्मा है। आत्मा कर्मों व ग्रहण करता है बध करता है, तव फल मिलता है।

इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि यह आत्म कर्मों के कारण ही सुख-दु ख का भाजन वनती है। कर्म ही जन्म मरण के कारण है। कर्मो का समूह रूप कार्मण शरीर जवत आत्मा के साथ लगा है तवतक आत्मा स्वर्ग-नरक आदि गतिय मे भ्रमण करता ही रहेगा। कर्मों के अतिरिक्त ईश्वर जैसी को शक्ति उसे सुख-दु ख देने वाली नही है।

अव यह प्रश्न शेप रह जाता है कि अनादि काल से आत्मा क साथ सवद्ध कर्मो का विनाश किस प्रकार हो सकता है ? इस सवन्ध मे यही कहना पर्याप्त होगा कि जो अनादि कालीन है वह अनन्त भी होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नही है। प्रागभाव आदि कुछ ऐसी वस्तुएँ भी है जो अनादि होने पर भी नष्ट हो जाती है। फिर कोई एक कर्म ऐसा नही जो अनादि से आत्मा के साथ वँधा हो। प्रत्येक कर्म की आदि है, केवल कर्मो का प्रवाह ही अनादिकालीन है।

जैसे तेज तूफान मे वादल विखर जाते हैं और चन्द्रमा की स्वाभाविक ज्योति प्रकाशित हो उठती है, उसी प्रकार ध्यान, भावना, तपस्या आदि कर्मविरोधी कारणो की प्रवलता से कर्मो का

समूह भी नष्ट हो जाता है। कर्मो का नाश होने का अभिप्राय यह नही कि वे सत् से असत् हो जाते हैं। कोई भी पदार्थ जिसकी सत्ता है, कदापि असत्—शून्य रूप नही होता। कर्म भी शून्य नही वन जाते, सिर्फ उनकी कर्म रूप पर्याय बदल जाती है। जीव पर उनका कोई असर नही रह जाता। उस समय आत्मा अपने असली रूप मे प्रकाशित हो उठता है। यही आत्मा की मुक्ति है।

अनादिकाल से अनन्त-अनन्त आत्माओ ने इस प्रकार की मुक्ति प्राप्त की है और शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त किया है। आप भी पुरुषार्थ करके अपनी आत्मा को विशुद्ध वना सकते हैं और परमात्मपद प्राप्त कर सकते हैं। आवश्यकता केवल इस वात की है कि शास्त्रोक्त आचार को अपनाएँ, अपनी भावना को सदा पवित्र रक्खें और जीवन को सयममय बनाएँ। विपय-विकार से दूर होकर आत्मा मे ही रमण करने का प्रयत्न करें।

जो भव्य प्राणी ऐसा करते है, वे ससार सागर को पार करके अनन्त सुखो के पात्र वनते है।

राजकोट
१८-८-५४

मुक्ति का महामार्ग

अरिहन्त अरिहन्त० ।

चौवीसवे तीर्थकर जगदुद्धारक भगवान् महावीर ने स्वय अपना कल्याण किया और दूसरो को भी बतलाया कि अगर अपने दु खो का अन्त करना चाहते हो तो उसी मार्ग का अनुसरण करो जिसका मैंने अनुसरण किया है। मैं जिस मार्ग पर चला हूँ, उसी पर चलने से तुम्हारे कष्टो का अन्त होगा। यह मार्ग कोई नूतन मार्ग नही है। पहलेपहल मैंने ही इसका अन्वेषण किया हो, ऐसा नही है। अनन्त आत्माएँ अतीत काल मे इस मार्ग पर चल चुकी हैं और असीम आनन्द की उपलब्धि कर चुकी है। आत्मकल्याण का यही एक मार्ग है, अतएव सभी सर्वज्ञो ने इसी मार्ग पर चलकर अपना हितसाधन किया और यही मार्ग दूसरो को बतलाया है। आचारागसूत्र की स्पष्ट घोषणा है—

पणया वीरा महावीहिं ।

वीर पुरुष इसी महामार्ग पर चले हैं।

इस प्रकार कह कर भगवान् ने जहाँ हमारा पथप्रदर्शन किया वही यह भी प्रकट कर दिया कि यह मार्ग कोई अपरिचित या अक्षुण्ण मार्ग नही है। जाना-पहचाना मार्ग है। अतएव इस पर चलने मे शका के लिए कोई अवकाश नही है।

जो सत्य है वह त्रिकालाबाधित है। पूर्ण ज्ञानियो मे मतभेद

नही हो सकता। वे उसी एक सत्य का अनुभव करते और प्रकाश करते हैं। शास्त्र कहता है—

'जे अतीता, जे य अणागया, जे य पडुप्पन्ना, सव्वे ते एवमाहसु।'—आचाराग।

जो तीर्थंकर भूतकाल मे हुए हैं, जो वर्तमान काल मे है और जो भविष्य मे होगे, उन सब का यही एक कथन है। इसमे कुछ भी अन्तर नही है।

सिद्धान्तो मे हेराफेरी के लिए कोई गुजाइश नही है। जहाँ खोट होती है वहाँ पर ही हेराफेरी होती है। निर्ग्रन्थप्रवचन मे वक्रता नही होती। वचन की प्रमाणता वक्ता की प्रमाणता पर निर्भर है। वक्ता अगर सर्वज्ञ और वीतराग हो तो उसकी वाणी मे अयथार्थता नही हो सकती। अल्पज्ञानी और कषायी जीव ही अज्ञान और राग-द्वेष से प्रेरित होकर मिथ्या भाषण करते हैं। जिसे वस्तु का यथार्थ स्वरूप ज्ञात है और जो निर्विकार होने के कारण यथार्थता को छिपाना नही चाहता, उसके कथन मे अयथार्थता किस प्रकार आ सकती है ?

तीर्थंकर भगवान् की एक बडी विशेषता यह है कि वे अपने जीवन के साधनाकाल मे, जबतक सर्वज्ञता का लाभ नही कर लेते, तब तक उपदेश नही देते। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने के पश्चात् ही वे तत्त्व का उपदेश करते हैं और तीर्थ की स्थापना करते है। यही कारण है कि उनकी वाणी सौ विश्वा सत्य ही होती है। युक्ति और तर्क से उसमे बाधा नही हो सकती। उसमे पूर्वापर विरोध भी नही हो सकता।

इसके विपरीत जिस आत्मा मे वक्रता होती है तो उसकी वाणी और व्यवहार मे भी वक्रता होती है। जैसा मार्ग होता है, पानी की गति भी वैसी ही होती है। मार्ग सीधा है तो पानी भी सीधा चलेगा। मार्ग टेढा है तो पानी की गति भी टेढी होगी।

प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जिस मनुष्य मे कुटिलता होती है, उसके वचन और व्यवहार भी प्राय कुटिल ही होते हैं। जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिए कुटिल पुरुष प्रयास करता है, वह अगर सीधी तरह उसे न मिले तो वह फिर टेढा-मेढा मार्ग अगीकार करता है।

लोभ न हो तो माया—कपटाई भी नही रह सकती। लोभ माया के विना रह सकता है, पर माया लोभ के बिना कदापि नही रह सकती। माया लोभ की आड मे ही रहती है। माया के होने पर लोभ की नियमा है और लोभ के होने पर माया की भजना है। लोभ कषाय सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थान तक रहता है, परन्तु माया दसवे गुणस्थान मे नही होती।

साम्पराय का अर्थ कषाय है। सूक्ष्मसाम्पराय का आशय यह है कि इस गुणस्थान मे सिर्फ लोभ का सूक्ष्म अश ही विद्यमान रहता है।

लोभ सब कपायो मे जवर्दस्त है। क्रोध, मान और माया का नाश हो जाने पर भी लोभ आत्मा के साथ चिपटा रह जाता है और वडी कठिनाई से, खड-खड करने पर उसका अन्त होता है। कभी-कभी लोभ आत्मा मे छिपकर, दुबक कर अर्थात् उपशान्त होकर रह जाता है और आत्मा ग्यारहवे गुणस्थान की श्रेणी पर आरूढ हो जाता है। मगर यह लोभ वहां अपना सिर उठाता है और इतने

ऊपर उठे आत्मा को घसीट कर नीचे ले आता है। यहाँ तक कि प्रथम गुणस्थान तक पहुँचा देता है।

प्राप्योपशान्तमोहत्त्व, क्रोधादिविजये सति।
लोभाशमात्रदोषेण, पतन्ति यतयोऽपि हि।

एक महामुनि उपशान्तमोह अवस्था को प्राप्त हो गया है। उस ने सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का उपशम करके ग्यारहवाँ गुणस्थान पा लिया। क्रोध आदि सभी कषायो का उपशम कर दिया। परन्तु उस को लोभ के अश का उदय होता है और उसकी वदौलत ही वह नीचे गिर जाता है। यह है लोभ का कटुक और अतिभीषण विपाक! ठीक ही कहा है—

जनक सर्वदोषणा, गुणग्रसनराक्षस।
कन्दो व्यसनवल्लीना, लोभ सर्वार्थवाधक॥

लोभ समस्त दोषो का जनक है। लोभ से पीडित जीव सभी पापो का सेवन करने को उद्यत हो जाता है। उसमे कोई भी दोष उत्पन्न हो जाता है। लोभ वह राक्षस है जो समस्त गुणो को भक्षण कर लेता है। लोभ के प्रभाव से मनुष्य को नाना प्रकार के सकट उठाने पडते हैं, अतएव वह व्यसन रूपी वेलो का मूल है।

अन्य कषायो का स्थान तो नियत है परन्तु लोभ ने सारे विश्व मे अपनी सत्ता जमा रक्खी है।

क्रोध का केन्द्रस्थान आँख और मस्तक है। क्रोध विकार जागृत होते ही आँखे लाल हो जाती हैं और ललाट पर सलवट पड जाती है, जैसे वूढी भेंस का चमडा सिकुड जाता है। यह क्रोध की निशानी है। जव किसी के चेहरे पर यह भाव प्रकट होते हैं तो लोग

कहते हैं—आँखें बदल गईं, अब इससे बात मत करो। सौम्य भाव चला गया। दृष्टि मे क्रूरता आ गई। रगत कुछ की कुछ हो गई। पहले मुखमडल से चन्द्रमा के समान शान्ति झरती थी, अब अगारे प्रकट हो रहे हैं। दृष्टि-विष-सर्प क्रोध से अभिभूत होकर देखने मात्र से दूर-दूर के जीवो को भस्म कर देता है। क्रोध के पुद्‌गलो मे उष्णता होती है। जब क्रोध उत्पन्न होता है तो सारा शरीर तप जाता है। शान्तिरस भग हो जाता है। क्रोधी जीव नही देखता कि मुझे किससे क्या कहना चाहिए और क्या नही कहना चाहिए ? यह मेरा पूज्य है, गुरुजन है या कौन है ? परिणाम पर विचार करने की उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। उसका विवेक विलुप्त हो जाता है। वह यद्वा तद्वा कुछ भी कह डालता है। परिवार के तथा पडौस के लोगो को दु खी बनाता है और स्वय भी दु खी होता है। वह स्वय जलता और दूसरो को जलाता है।

क्रोध भयकर विष है। सखिया विप है, अफीम विप है और पारा आदि भी विष हैं। सर्प और बिच्छू आदि मे भी विष होता है। मगर क्रोध-विष का मुकाबिला किसी भी विष से नही किया जा सकता। क्रोध सब से बडा विष है। भौतिक विष एक बार मार सकता है, परन्तु क्रोध-विप न जाने कितनी बार मारता है। सखियादि द्रव्यविष केवल द्रव्य प्राणो को ही हानि पहुँचाता है, क्रोध-विष तो ज्ञानादि भाव प्राणो को भी हानि पहुँचाता है।

सास-बहू, देवरानी-जिठानी, भाई-भाई आदि के झगडे मे क्रोधी विप खाकर मर जाता है, कूप मे कूद पडता है और अपने जीवन को नष्ट कर देता है। शास्त्र मे कहा है कि क्रोध के आवेश मे आत्मघात करने वाला महापापी है, बार-बार नियमो को भग करने वाला और विश्वासघाती भी महापापी है।

किसी को अमुक काम कर देने का विश्वास दिला करके ऐन मौके पर मुकर जाना कितनी बुरी बात है ! इससे उस बेचारे का तीव्र आघात पहुँचता है। उसकी प्रतिष्ठा को धब्बा लगता है। उसकी सारी योजना गडबड मे पड जाती है। मान लीजिए, किसी धनी ने किसी को रुपये देने का विश्वास दिला दिया। मगर अवसर आने पर जब वह रुपये मांगने गया तो उसने देने से इकार कर दिया। यह विश्वासघात है। कभी-कभी इस प्रकार के विश्वासघात का परिणाम अत्यन्त करुणाजनक होता है। विश्वासघात का शिकार हुआ मनुष्य अपने प्राणो का उत्सर्ग कर देता है। कभी-कभी उसका हार्ट फेल हो जाता है। अत विश्वासघात करना भी महापाप है।

विश्वासघात के समान कूटसाक्षी अर्थात् झूठी गवाही भी महापाप है। किन्तु खेद है कि आजकल धडल्ले के साथ यह पाप किया जा रहा है। कई लोगो ने अपना धन्धा ही गवाही देना बना लिया है। वे अदालतो के चक्कर काटते रहते हैं और जिसे कोई गवाह नही मिलता, झट कुछ पैसे लेकर उसके गवाह बन जाते है। उन्हे झूठी गवाही देने मे कोई सकोच नही होता। परन्तु वे अपराधी को निरपराध और निरपराध को अपराधी प्रकट करके न्याय की पवित्रता को कलकित करते है। यह भी महापाप है।

कृतघ्न भी महापापी है। जो दूसरे के किये उपकार को भूल जाता है वह कृतघ्न कहलाता है।

हां, तो मैं कह रहा था कि क्रोध बहुत बडा पाप है। बडे-बडे महात्मा भी इसे सहज मे वशीभूत नही कर पाते।

एक गुरु थे और उनका एक शिष्य था। गुरु शिष्य को साधु

की रीति सिखाने के अभिप्राय से बार-बार टोका करते थे। शिष्य गुरु की शिक्षा की परवाह नही करता था। शास्त्र मे कहा है—

अह पचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थभा कोहा पमाएण, रोगेणालस्सएण य ॥
—उत्तराध्ययन, अ० ११, गा० ३.

निम्नलिखित पाँच दोष या पाँच मे से कोई भी एक दोष जिसमे होता है, वह शिक्षा प्राप्त नही कर सकता—

(१) स्तभ अर्थात् अहकार। अहकारी पुरुष मे नम्रता नही होती। गुरु के प्रति आदर का भाव नही होता। अतएव वह शिक्षा ग्रहण नही कर सकता।

(२) क्रोध—गुरु के द्वारा त्रुटि दिखलाने पर जो क्रोध से आगबबूला हो जाता है, वह भी शिक्षा का पात्र नही।

(३) प्रमाद—प्रमाद का अर्थ यहाँ आलस्य नही लेना चाहिए। प्रमाद और आलस्य मे अन्तर है। प्रमाद आलस्य की अपेक्षा अत्यन्त भयानक दुर्गुण है। गौतम जैसे महान् साधक को भी भगवान् ने 'समय गोयम ! मा पमायए' कह कर सावधान किया है। वस्तुत प्रमाद मनुष्य का बडे से बडा शत्रु है। ससार-परिभ्रमण का कारण प्रमाद है। जन्म-मरण के दुख प्रमाद की ही कृपा के फल हैं। यह पचमुखी दैत्य है। कहा है—

मज्ज विसयकसाया, निंदा विगहा य पचमी भणिया।
एए पच पमाया, जीव पाडेन्ति ससारे ॥

अर्थात्—मद्य, इन्द्रियो के विषय, क्रोधादि कषाय, परकीय निन्दा और विकथा, ये पांच प्रमाद हैं, जो जीव को जन्म-मरण के चक्र मे फँसाते है।

ये पाँच प्रमाद रूपी राक्षस के मुख हैं। जो मनुष्य इनमे से किसी भी एक मुख मे पड जाता है, उसकी कुशल नही है। इनसे आत्मस्वरूप को देखने मे मनुष्य असमर्थ हो जाता है।

पाँच इन्द्रियो के २३ विषय और २४० विकार हैं। विषयो मे अनुराग होना भी प्रमाद है। स्त्री कथा, भोजन कथा, देशकथा और राज कथा, यह चार विकथाएँ है। पानी को मथने से घी नही मिलता और रेत के लडडुओ से मधुर आस्वाद नही मिलता। निस्सार और निष्प्रयोजन बातो से लाभ तो कुछ होता नही, स्वाध्याय, ध्यान आदि क्रियाओ मे विघ्न ही उपस्थित होता है। इन्द्रियो को उत्तेजना मिलती है और समय का दुरुपयोग होता है। मानव जीवन का काल परिमित है और उसका बहुत अधिक मूल्य है। धर्मक्रिया करने वाले ही इस समय को सफल करते हैं। कहा है—

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ।
अहम्म कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ॥

अर्थात्—जो समय व्यतीत हो जाता है वह वापिस लौट कर नही आता। अधर्म का आचरण करने वाले का समय व्यर्थ ही व्यतीत हो जाता है। वह इस जीवन का कोई लाभ नही ले पाता। परन्तु—

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ॥

अर्थात्—जो समय जाता है, वह सदा के लिए ही चला जाता है। वह फिर कभी आता नही। परन्तु जो लोग धर्मक्रिया करते हैं उनका समय सार्थक होता है।

यद्यपि ग्यारह मास बाद उसी नाम का महीना आ जाता है और छ दिन बीतने पर फिर वही वार आ जाता है, पर यह आना तो केवल मास और वारो के नामो का आना है। परन्तु इनका जो समय बीत गया वह समय फिर नही आता। थैली मिल गई पर रकम चली गई तो थैली लेकर क्या माथा फोडना है!

ज्ञानी जनो का कथन है कि अधर्म करने वालो की रात्रि अर्थात् समय निष्फल चला जाता है। बात बहुत विचारणीय है। शास्त्र का कथन है कि निंदादि अधर्म करने वालो का समय व्यर्थ ही व्यतीत होता है।

क्या उन्हे फल नही मिलता? नही, फल तो मिलता है परन्तु सुख रूप फल नही मिलता। उत्तम नरभव पाकर जो सुफल प्राप्त करना चाहिए, उसमे वे वचित रहते हैं। वह सुहाग किस काम का जिसके पीछे दारुण दु ख अपने जबडे फाड कर खडा हो। मानव जीवन उनका सफल होता है जो धर्मसाधना करते हैं, सामयिक स्वाध्याय, ध्यान आदि क्रियाएं करते हैं। ऐसे लोग अपने जीवन के दिवस और रात सफल करते हैं। उन्हे आत्महित रूप फल मिलता है।

समय दोनो का व्यतीत होता है परन्तु एक आत्मा का हित कर लेता है और दूसरा अहित करके अपने भविष्य को बिगाड लेता है।

दो मनुष्य आजीविका के लिए निकले। एक ने नौकरी कर कर ली और जिस मिति से नौकरी की थी, उसकी नोंध ले ली। उसने बुद्धिमत्ता से काम लिया और अपना वेतन तय कर लिया। अगर सेठ का मन बदल जाय, उसके मन मे बेईमानी आ जाय तो भी अपनी नोंध के आधार पर वह अपना पैसा वसूल कर सकता है।

मन वदलते देर नही लगती। मन पानी की लहरो से भी अधिक चचल है।

मन मन है, सेर दो सेर नही—चालीस सेर का मन है। सेर सिंह को भी कहते हैं। उमे वश मे करना कोई मामूली वात नहीं है। चूहे से भी डर जाने वाले लोगो के लिए शेर (सेर) को वशीभूत करना कितना कठिन है।

मन की गति चन्द्रमा, सूर्य, विद्युत्, पवन एव देव की गति से भी अधिक तीव्र है और अतिशय चपल है। कहाँ छब्बीसवां देवलोक और कहाँ जम्बूद्वीप ? कुछ कम सात राजू का फासला है। परन्तु इस मन को छब्बीसवें देवलोक से जम्बूद्वीप मे आते-जाते पल भर भी नही लगता।

मन मनोवर्गणा के पुद्गलो से वनता है। इन पुद्गलो मे अनूठी शक्ति है। सर्वार्थसिद्ध विमान के देव भगवान् से मन के द्वारा ही वात कर लेते हैं। वहाँ सव देव अहमिन्द्र है—पूर्ण स्वाधीन है। जैसे यहाँ राजा-प्रजा का, शासक और शासित का अन्तर है, वैसा वहां नही है। वहाँ सब स्वयप्रभु हैं। इसका कारण यही है कि वहाँ सब देव समभावी है, अतएव शासन की आवश्यकता नही है। शान्ति की रक्षा और न्याय-नीति की प्रतिष्ठा के लिए शासन की आवश्यकता होती है। मगर जव विना ही शासन के यह काम होता हो तो शासन की आवश्यकता नही रहती।

हमारे गुरु जी ने एक वार चित्तौड दुर्ग पर चौमासा किया था। उनका कहना था कि वहां सिर्फ कुत्ता-विल्ली से वचाव करना पडता है, मनुष्यो से नही, क्योकि वहाँ चोर नही थे। भारतवर्ष मे किसी ज़माने मे घरो मे ताले तक नही लगाये जाते थे। युगलियो के

समय यहाँ कोई शासन व्यवस्था नही थी और न कोई दण्डव्यवस्था ही थी। धीरे-धीरे मानवप्रकृति मे विकार आया, उसकी आवश्यकताएँ बढी और सचयवृत्ति पनपी तो गडवड होने लगी। तव 'हा' यह दडविधान किया गया। अपराधी को अगर 'हा' कह दिया जाता था तो उसे ऐसी पीडा होती मानो प्राणदण्ड दिया गया हो। जव इस दण्ड का प्रभाव घटा और लोग इसकी कम परवाह करने लगे तो 'मा' दण्ड प्रचलित हुआ। 'हा' इस दड मे अपराधी के कृत्य पर सिर्फ खेद प्रकट किया जाता था, 'मा' दड मे निपेध का भाव आ गया, अर्थात् अनुचित कृत्य करने की मनाई की जाने लगी। उस समय यही दण्ड पर्याप्त प्रभावकारी था। किन्तु लोगो की वृत्तियाँ शनै शनै गिरती ही जा रही थी, अतएव कुछ काल के पश्चात् यह दण्ड भी प्रभावहीन हो गया तो अधिक कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई। वह कठोर दण्ड 'धिक्' था। अपराधी को उसके कृत्य पर धिक्कार दिया जाने लगा।

उस समय के मनुष्य इतने सीधे-सादे और लज्जाशील थे कि उनके लिए यही दण्ड पर्याप्त थे। शर्मदारो के लिए थोडा-सा दण्ड भी काफी हो जाता है। जिन्हे अपनी इज्जत का खयाल नही, जो वेशर्म हैं और जिनमे कुकृत्य करने की वृत्ति अपनी गहरी जड जमा चुकी है, उनकी वात निराली हे। पक्के वेशर्म जेल जाने को भी ससुराल जाना कहते है। किन्तु कुलीन पुरुप को साधारण उपालभ ही काफी होता है और नग वादशाह के लिए डडो की मार भी कुछ चीज नही है। धृष्ट पुरुप धिक्कारो की भी परवाह नही करता जवकि लज्जाशील की तनिक कहने मात्र से आँखे नीची हो जाती है। जो उपालभ सुन कर हँस देता है, समझना चाहिए कि वह निर्लज्ज है और उसकी आत्मा गिर चुकी है। वह शिक्षा के योग्य नही है।

जहाँ लज्जा है वही अन्य गुण विद्यमान रह सकते हैं। भगवती दया भी लज्जा के साथ ही रहती है और सयम भी लज्जा के साथ ही रह सकता है। ब्रह्मचर्य भी लज्जावान् मे ही होता है।

तो अवसर्पिणी काल के प्रभाव से जव मनुष्यो की सख्या मे वृद्धि होने लगी और जीवनोपयोगी वस्तुओ की कमी पडने लगी तो छीना-झपटी, बलात्कार, लूट-खसोट आदि बुराइयाँ वढने लगी और ज्यो-ज्यो बुराइयाँ बढी त्यो-त्यो दड की कठोरता भी वढती गई। मगर दडव्यवस्था की कठोरता मनुष्य को पतन से बचा नही सकी। समाज की अपराधवृत्ति वरावर वढती ही रही। यहाँ तक कि प्राण-दण्ड लागू कर देने पर भी आज अपराध हो रहे है।

अभिप्राय यह है कि शासनव्यवस्था और दण्डव्यवस्था की आवश्यकता मनुष्य को नियन्त्रित रखने के लिए है। एक मनुष्य दूसरे के प्रति अत्याचार न करे, दूसरे के हक को न छीने, कोई किसी की स्वतन्त्रता मे बाधा न डाले, अमन-चैन मे विघ्न न पडे, इस प्रयोजन के लिए यह व्यवस्थाएँ हैं। मगर छव्वीसवें देवलोक मे यह बुराइयाँ हैं ही नही, अतएव वहाँ कोई शासनव्यवस्था नही, दण्डव्यवस्था भी नही। वहाँ के सभी देव 'अहमिन्द्र' है। उनका मोहनीय कर्म उप-शान्त रूप मे रहता है।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि उपशान्तमोह तो ग्यारहवाँ गुणस्थान है और अनुत्तर विमानो के देव सब चौथे गुणस्थान मे होते है। उन्हे उपशान्तमोह कैसे कहा जा सकता हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मोहोपशम के कई विकल्प हैं। जैसे प्रथम गुणस्थान से लेकर तेरहवे गुणस्थान तक शुक्ल लेश्या वतलाई गई है, मगर कहाँ मिथ्यादृष्टि की भावना और कहाँ सयोगकेवली की भावना ? कितना

वहुत अन्तर है दोनो के अध्यवसायो मे ? मगर जैसे प्रथम और तेरहवें गुणस्थान वालो की भावना मे अन्तर है, उसी प्रकार शुक्ल-लेश्या मे भी बहुत तारतम्य है। मिथ्यात्वी की शुक्ललेश्या और केवली की शुक्ललेश्या विशेष रूप मे विसदश होने पर भी सामान्य रूप से शुक्ल लेश्या ही कहलाती है, उसी प्रकार चतुर्थ गुणस्थानवर्त्ती अनुत्तरदेवो एव ग्यारहवे गुणस्थानवर्त्ती सयमी के मोह का उपशम सामान्यदृष्टि से समान होने पर भी विशेष दृष्टि से वहुत भिन्न है।

एक-एक लेश्या के असख्यात-असख्यात अध्यवसायस्थान हैं; उसी प्रकार मोहोपशम के भी तरतमता के आधार पर अनेक भेद हैं।

उपशान्तमोह गुणस्थानवर्त्ती जीव मोहनीय कर्म की सभी—अट्ठाईस ही प्रकृतियो को दवा देता है। किसी भी प्रकृति का उसे उदय नही होता और जब उदय होता है तो ग्यारहवां गुणस्थान नही रहता। अनुत्तर विमानो के देवो मे मोह का उदय है, परन्तु वह सूक्ष्म-रूप मे है। नीचे के देवो की अपेक्षा उनमे अल्प उदय है। वे इस दृष्टि से उपशान्तमोह हैं कि परस्पर मे कलह नही करते, एक दूसरे से ईर्षा-द्वेष नही करते। इसी प्रकार मनुष्यो मे भी कई शान्त प्रकृति के होते हैं। कभी-कभी मोह की उदीरणा के कारण सम्यग्दृष्टि भी माथा कूट-कूट कर रोते हैं, परन्तु कई विचारक नही भी रोते हैं। एक ही घर मे कई प्रकृतियो के मनुष्य पाये जाते हैं।

ऊपर वाले वे देव अपने स्थान पर स्थित रहकर ही तीर्थंकर भगवान् के साथ वात करते हैं, जैसे तुम भाषावर्गणा के पुद्गलो द्वारा टेलीफोन से वात करते हो।

देवलोक के देव तीन ज्ञान के घनी होते हैं, भगवान् केवल-ज्ञान के घनी होते हैं। इसलिए उनमे पूर्वोक्त रूप से शका समाधान

हो सकता है। आज हजारो मील की दूरी से भी बातचीत हो सकती है। वायरलेस से सातो विलायतो की तत्काल खबर आ जाती है।

भगवान् अद्वितीय रेडियोस्टेशन है। उनके समान दूसरा कोई पावरहाउस नही है। न केवल सभी विलायतो के साथ, अपितु चराचर विश्व के साथ उनका सबन्ध है। किन्तु नवर वही मिला सकता है, जिसके पास टेलीफोन हो।

देव अपनी मनोवर्गणाओ के द्वारा भगवान् से प्रश्न करते है और भगवान् उनके प्रश्न को केवलज्ञान से जान कर उत्तर दे देते हैं। प्रश्न किया गया कि कितने साधु मोक्ष मे जाएँगे ? भगवान् ने मन ही मन उत्तर दे दिया कि मेरे सात सौ साधु मोक्ष जाएँगे।

सज्जनो ! मन मे बडी जबर्दस्त शक्ति है। वह बहुत दूर दूर तक गति करता है। उसकी गति के वेग की तुलना किसी से नही की जा सकती। उसका वेग वास्तव मे अचिन्त्य है। इतना असाधारण वेगवान् होने के साथ ही मन अत्यन्त हठोला भी है। उसे जिधर जाने से रोको, हठात् उधर ही जाता है। वह बडे-बडे योगियो को भी अनेक प्रकार के नाच नचाता है। जीव के कर्मबन्धन का प्रधान कारण मन ही है और मोक्ष का कारण भी मन ही है। मन और आत्मा के सघर्ष मे जब आत्मा विजयी होता है और मन पर अपना नियत्रण स्थापित कर लेता है, तब वही मन मोक्षमार्ग पर गति करने मे सहायक बन जाता है। परन्तु जब वह आत्मा को पराजित करके स्वय विजयी बनता है, तब आत्मा को अधोगति की ओर ढकेल ले जाता है।

मन पर प्रमादी जीव काबू नही पा सकता। वह तो मन का क्रीतदास बन कर मन की तरगो पर नाचता है। उस पर काबू

करने के लिए बडी सतर्कता और उपयुक्तता की आवश्यकता है। निरन्तर अभ्यास करने से और विरक्ति की भावना का पोषण करने से धीरे-धीरे मन काबू मे आता है। इसके लिए कठिन साधना अपेक्षित है। परन्तु जब मन वशीभूत हो जाता है तो आत्मा को अपूर्व, अद्‌भुत और अनिर्वचनीय शान्ति और निराकुलता की अनुभूति होती है। जैसे समग्र विश्व के ऐश्वर्य को प्राप्त करने की चाबी मिल गई हो। उस समय आत्मा समभाव मे रमण करता है और आत्मानन्द का पान करता है। विषयो की वाछा रूपी वह्नि उसे सतप्त नही बना सकती। उसे अत्यन्त शीतलता प्रतीत होने लगती है।

जिसे मन पर विजय प्राप्त करनी है उसे प्रमाद का परित्याग करना चाहिए। प्रमाद भयानक वैरी है और वह शिक्षा की प्राप्ति मे भी बाधक बनता है।

शिक्षा-प्राप्ति मे चौथा बाधक कारण रोग है। रोग से ग्रस्त मनुष्य भी शिक्षा प्राप्त नही कर सकता। जिसका तन स्वस्थ नही, प्राय उसका मन भी स्वस्थ नही रह सकता और तन-मन की अस्वस्थता मे शिक्षाप्राप्ति की सभावना भी नही की जा सकती।

पाँचवाँ शिक्षा का बाधक कारण आलस्य है। आलस्य का अर्थ है सुस्ती। आलस्य प्रगति का विरोधी है। कहा भी है—

आलस्य हि मनुष्याणा शरीरस्थो महान् रिपु।

आलस्य शरीर के भीतर छिपा हुआ मनुष्य का महान् शत्रु है।

भगवती सूत्र मे प्रश्न किया गया है कि मनुष्य का उद्यमी होना अच्छा है या आलसी होना अच्छा है? भगवान् ने अपने उत्तर में अनेकान्तवाद की झलक दिखलाते हुए कहा कि किन्ही जीवो का

आलसी होना अच्छा है और किन्ही का उद्यमी होना अच्छा है। तात्पर्य यह है कि पापी जीव पापकर्म करने मे अगर आलस्य करे तो अच्छा है, इससे उनके पाप मे कमी होगी और दूसरे जीव उनके पापाचार के शिकार होने से बचेंगे, परन्तु धर्मात्मा जीवो का आलसी होना अच्छा नही, उनका उद्यमी होना ही अच्छा है।

विद्यार्थी का आलसी होना अच्छा नही है। आलसी शिक्षा प्राप्त नही कर सकता।

इस प्रकार प्रमाद और आलस्य मे अन्तर है। प्रमाद आलस्य की अपेक्षा अधिक खतरनाक है। क्रोध भी प्रमाद है और मान भी प्रमाद है। क्रोध के सम्बन्ध मे पहले कहा जा चुका है।

मान का स्थान गर्दन है। मनुष्य मे जब मानकषाय का उद्रेक होता है तो उसकी गर्दन सीधी हो जाती है। वह झुकने का नाम नही लेती। अभिमानी अपने गुरुजनो का भी यथोचित सन्मान नही करता, यही नही, वरन् अपमान करने की भी धृष्टता कर बैठता है। वह अपने को औरो से श्रेष्ठ समझता है, अपने को सब कुछ और दूसरो को कुछ भी नही समझता है। परन्तु अभिमान के कारण उसे दूसरे लोग घृणा की दृष्टि से ही देखते हैं।

अभिमानी मे प्रथम तो सद्‌गुण पनपने ही नही पाते, कदाचित् हो तो भी वे अभिमान की दुर्गंध से दुर्गंधित हो जाते है और लोगो की दृष्टि मे उनका कुछ भी मूल्य नही होता। अभिमान समस्त सद्‌गुणो को ढक देता है।

अभिमान मनुष्य की क्षुद्रता का द्योतक है। गभीर मनुष्य अभिमान नही करता। कहा है—

सम्पूर्णकुम्भो न करोति शब्द-
मर्घो घटो घोषमुपैति नूनम् ।
विद्वान् कुलीनो न करोति गर्व,
गुणैर्विहीना वहु जल्पयन्ति ॥

जो घडा पानी से परिपूर्ण होता है वह छलकता नही, मगर अधूरा घडा आवाज करता है। इसी प्रकार जो कुलीन विद्वान् होता है, वह अपनी विद्या का अभिमान नही करता, मगर जो गुणहीन होते है वे वहुत वडवडाते रहते हैं।

अभिमानी वडी-वडी डीगें मारता है और समझता है कि मैं दूसरो पर अपना रौव गालिव कर रहा हूँ, मगर वह नादान वडी भूल मे हैं। दूसरे उसे तुच्छ और क्षुद्र समझते हैं। अभिमान से अन्धा वना हुआ वह दूसरो की नफरत भरी निगाहो को देख नही सकता।

भिन्न-भिन्न लोग अपने अभिमान के लिए विभिन्न आधार खोज निकालते है। कोई जाति का, कोई कुल का, कोई वल का, कोई विद्या का, कोई तपस्या आदि का अभिमान करता है। उन्हे पता नही कि ससार मे एक से एक वढ कर लोग मौजूद है, जिनकी तुलना मे वे कुछ भी नही है। इसके अतिरिक्त जाति और कुल का अभिमान करने से पहले मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि—जीव इस ससार मे अनादि काल से भ्रमण करता आ रहा है। ऐसी कोई जाति नही, कुल नही, योनि नही, जिसमे प्रत्येक जीव ने अनन्त वार जन्म न लिया हो। भविष्य मे भी क्या ठिकाना है? कौन जीव मर कर किस योनि मे और किस जाति मे जन्म लेगा, इसका कोई निश्चय नही है। ऐसी अवस्था मे आज अपने को उच्चजातीय मान कर दूसरो से घृणा करना कहाँ तक उचित है?

उन्होने सिर्फ सज्वलनमाया का सेवन किया था और वह भी तपस्या जैसी आत्मशोधक क्रिया के लिए। उसके प्रभाव से तीर्थकर होने पर भी उन्हे स्त्रीपर्याय प्राप्त हुई। ऐसी स्थिति मे जो लोग पापाचरण को छिपाने के लिए दिन-रात माया का जाल रचते रहते हैं, उन्हे कितना भीषण फल नही भोगना पडेगा ?

माया तीन शल्यो मे से एक शल्य है जो व्रतो को अव्रत बना देती है। मायाचारी का सयम सयम नही होता। उसकी धर्मक्रिया मायाचार के कलक से कलकित होने के कारण यथेष्ठ फलदायक नही हो पाती।

लोभ सब अगो मे रहता है। रोम-रोम मे समाया है। जैसे अन्य मतावलम्बियो का ईश्वर सर्वव्यापक है, उसी प्रकार लोभ भी सर्वांगव्यापी है। शास्त्रकारो ने लोभ की निन्दा करते हुए कहा है—

लोभो सव्वविणासणो।

अर्थात्—लोभ सभी अच्छाइयो को नष्ट कर देता है। लोभ के सबध मे अभी कहा जा चुका है। यह एक ऐसा दोष है जिसे सब जानते हैं परन्तु कोई विरले ही त्यागते हैं।

हाँ, मैं गुरु और शिष्य की बात कह रहा था। गुरु अपने शिष्य को शिक्षा देने के लिए बार-बार टोकता था, पर शिष्य प्रमादग्रस्त होने के कारण उस शिक्षा की परवाह नही करता था। गुरु चल रहे थे कि अचानक उनके पैर के नीचे एक मेढकी आ गई। वह मरी हुई मेढकी थी। उसे देख कर शिष्य ने कहा—महाराज, मेढकी आपने मारी है।

गुरु ने उसका प्रतिवाद किया, फिर भी चेला न माना तो गुरुजी क्रोधित हो उठे। क्रोधित भी इतने अधिक कि चेले पर टूट पडे

और उसे मारने लगे। इसी क्रोधावेश मे वह एक खभे से टकराये और मर गये। मरने के बाद उन्हे सर्प योनि मे जन्म लेना पडा।

अभिप्राय यह है कि जब तक आत्मा मे कषाय विद्यमान रहते हैं, तब तक जीव वक्रता पूर्ण व्यवहार करता है। उसके अन्त -करण मे सरलभाव नही आ पाता। यही कारण है कि ज्ञानी पुरुषो ने कषायो को जन्म-मरण का मूल कारण कहा है। अतएव जो भव्य जीव जन्म-मरण की पीडा से पिण्ड छुडाना चाहते हैं, जो इस भव और परभव मे सुखी होना चाहते है, उन्हे कपायो से वचना चाहिए। क्षमा से क्रोध को, नम्रता से मान को, सरलता से माया को और सन्तोष से लोभ को जीतना चाहिए।

जो भव्य जीव जितने- जितने अशो मे कषायो को जीतता चला जाता है, उतने ही उतने अश मे उस मे सरलता आती जाती है, और जितने-जितने अश मे सरलता आती जाती है, उतने ही उतने अश मे आत्मा शुद्ध और पवित्र वनती जाती है।

सज्जनो! अगर आप अपना वास्तविक कल्याण चाहते हैं तो वक्रता को त्याग कर प्रभु का स्मरण करो। भगवान् ने कहा है कि मैं जिस मार्ग पर चला हूं, उसी पर चलो और विना विश्राम कूच करते चलो। दुनिया के निरर्थक झझटो को छोडो और आत्मा के हित को ही अपने सामने रक्खो। आत्मा ही सव कुछ है। वही स्वर्ग-नरक का निर्माण करता है और वही साधना द्वारा अन्तत मोक्ष प्राप्त करता है। वोलो भगवान् महावीर की जय!

राजकोट
१९-८-५४

शक्तियों का समन्वय

अरिहन्त अरिहन्त० ।

धर्मप्रेमी वन्धुओ तथा वहिनो !

अभी-अभी अर्हन्त भगवन्त की स्तुति का उच्चारण किया गया है। परमात्मा की स्तुति से चिर सुप्त आत्मा जागृत हो जाता है।

कोई पुरुष गाढ निद्रा मे सोया हुआ हो और दूसरा कोई इसके पास जाकर आवाज लगाता है तो उसके शब्द सुन कर वह जागृत हो जाता है। कान मे शब्द पडने पर वह अगडाई लेकर उठ बैठता है। उसकी प्रमत्त अवस्था दूर हो जाती है और वह चुस्त हो जाता है। यह द्रव्यनिद्रा मे सोये हुए मनुष्य की वात है। द्रव्यनिद्रा मे सोने वाले को जगाने के लिए शब्द की आवश्यकता है और अत्यन्त गाढी नीद मे सोया हो तो झकझोरने की आवश्यकता पडती है। इस प्रकार द्रव्यनिद्रा से जगाने मे कोई कठिनाई नही आती है। यह नीद तो यो भी अल्पकालीन होती है। कदाचित् कोई न जगावे तो भी कुछ समय वाद वह आप ही आप जागृत हो जाता है।

मगर भावनिद्रा की वात कुछ निराली हे। यह निद्रा अल्पकालीन नही, अनादिकालीन है और इतनी अधिक गाढी कि झकझोरने से भी दूर नही होती।

अनादि काल से आत्मा मिथ्यात्व, प्रमाद एव परभाव मे रमण रूप भावनिद्रा मे सोया हुआ है। जैसे द्रव्य निद्रा मे सोने वाले को,

हिताहित का भान नही रहता, उसी प्रकार भावनिद्रा मे सोने वाले को, द्रव्य निद्रा न होने पर भी हिताहित का विवेक नही होता। वह ऊपरी तौर पर जागता हुआ भी सुप्त सा रहता है। उसके नेत्र खुले रहते हैं परन्तु विवेक सोया रहता है। यही कारण है कि उसे हित-अहित का अन्तर ज्ञात नही होता।

भावनिद्रा मे सुप्त पुरुष मे एक विशेषता यह होती है कि वह वस्तुस्वरूप को विपरीत ही समझता है। उसे अहित हित प्रतीत होता है और हित अहित जान पडता है। जिन विचारो और कर्त्तव्यो से आत्मा नाना प्रकार की विपत्तियो का भाजन वनता है, उसे वह सुखरूप समझता है और ऐसे ही कामो मे प्रवृत्ति भी करता है। मगर आत्मा का वास्तविक कल्याण करने वाले कार्यों से दूर-दूर भागता है।

इस प्रकार भावनिद्रा वडी दुर्जय है। मिथ्यात्व एव अज्ञान के आवेश मे जीव आत्मभाव को भूल रहा है। किस प्रकार उसकी यह निद्रा दूर हो सकती है? भावनिद्रा से जगाने का निमित्त क्या है?

महापुरुषो की उपदेशध्वनि और गुणस्तुति के पावन शब्द भावसुप्त आत्मा को जागृत कर देते हैं। उनकी वाणी मे अद्भुत सामर्थ्य होता है और वह सामर्थ्य उनकी तपस्या से उत्पन्न होता है। उनके गुणो का स्तवन भी हृदय मे एक प्रकार की प्रवल प्रेरणा उत्पन्न करता है। स्तुति अगर एकाग्र चित्त से की जाय और स्तुति के स्वर मे हृदय के रस का भी सम्मिश्रण हो तो अपूर्व फल की प्राप्ति होती है। स्तुतिगान से चित्त मे जो रस प्रवाहित होता है, उसमे आत्मा का कालुष्य धुल जाता है।

स्तुत्य के प्रति निश्चल आस्था और गहरी भक्ति होने से स्तोता शनै शनै उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेने मे समर्थ होता है और वह तादात्म्य कालान्तर मे उसे स्तुत्य की श्रेणी मे पहुँचा देता है। अर्थात् स्तोता स्वय परमात्मा वन जाता है। मगर जैसा कि अभी कहा गया है, स्तुत्य के गुणो के साथ अन्त करण का तदाकार हो जाना आवश्यक है। जव तक यह तदाकारता नही आती तव तक आत्मा मे जागृति उत्पन्न नही हो सकती।

नाम के द्वारा नामी के साथ जिसने सबन्ध जोडा है, वही आनन्द पाता है। ऊपर-ऊपर से 'नमो अरिहताण' आदि कहने से काम नही चलता। जीभ से जुडा परन्तु मन से नही जुडा हो तो काम नही चलता।

जीभ का काम शव्दोच्चारण करना है। यह न हो तो मनुष्य वोवडा-गूंगा हो जाय और ऊँ-ऊँ करे। अन्दर के ततु जिह्वा के साथ जुडे होते है तो जिह्वा यथोचित व्यापार नही कर सकती और इसी कारण शव्दो का स्पष्ट उच्चारण नही होता। जिह्वा मे कोई त्रुटि नही होती तो शव्दो का उच्चारण ठीक होता है। परन्तु शव्दो मे जो भाव निहित है, उसे जानने का काम मन का है। ऐसी हालत मे जिह्वा से शव्दोच्चारण हो रहा हो परन्तु मन उन शव्दो से जुडा हुआ न हो तो वह उच्चारण व्यर्थ हो जाता है—भावविहीन हो जाता है।

कई लोगो ने मुझसे कहा है कि—जव हम भजन करते है तव मन इधर-उधर चक्कर काटता रहता है, वह स्थिर नही होता और जव मन स्थिर नही होता तो भजन करने मे क्या लाभ है ? यह विचार करके हम भजन नही करते।

इस सम्वन्ध मे मेरा कथन है कि मन का स्थिर होना

आवश्यक है, इसमे कोई सन्देह नही। परन्तु साधक जब तक 'अनट्रेण्ड' है, अभ्यासी नही है, तब तक मन अनियत्रित रहेगा ही। कोई यह चाहे कि पहले मन नियन्त्रित हो जाय और फिर भजन करे तो यह सर्वथा असम्भव है। किसी भी क्षेत्र मे पहले पहल अभ्यास की आवश्यकता होती है। वच्चा जब अक्षर लिखना सीखना आरभ करता है तो पहले-पहल ऊट-पटांग लिखता है। धीरे-धीरे लिखते-लिखते उसे ठीक लिखना आता है। अगर कोई वालक यह सोचने लगे कि पहले ठीक लिखना आ जाय, तव मैं ठीक लिखना शुरू करूँ तो वह अपनी जिन्दगी मे कभी लिखना नही सीख सकेगा।

तो जैसे सुन्दर अक्षर लिखने के लिए अभ्यास करने की आवश्यकता है और आरम्भ मे सुन्दर अक्षर न लिखे जाने के कारण अनुत्साहित एव हताश न होकर पुन पुन प्रयत्न करना आवश्यक है, इसी प्रकार भजन का अभ्यास करना भी आवश्यक है। ठीक है कि प्राथमिक स्थिति मे मन इधर-उधर भागेगा, पर इससे निराश होकर भजन का त्याग कर देना उचित नही, वलिक मन को स्थिर करने का ही प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास करते-करते एक समय आएगा कि चित्त भजन मे एकाकार होने लगेगा और भजनकर्त्ता को अपूर्व आनन्द की उपलब्धि होने लगेगी।

अगर मन को नियन्त्रित करने मे कठिनाई न होती, वह अनायास ही वशीभूत हो जाता, तो साधना की आवश्यकता ही नही थी।

कई लोग समझते हैं कि पवन से भी अधिक चचल मन को वशीभूत और स्थिर करना सम्भव ही नही है। परन्तु ऐसा समझना एकदम भ्रमपूर्ण है। जो आत्मा के अचिन्त्य सामर्थ्य पर विश्वास

करते हैं, वे ऐसा नही सोच सकते। मन को स्थिर करना अगर सभव न होता तो शास्त्रो मे ऐसा करने का उपदेश ही न दिया होता। तथ्य यह है कि अभ्यास से मन पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है, अतएव निराश होने की आवश्यकता नही। हाँ, रात-दिन सासारिक सकल्प-विकल्प मे फँसे रहने से, राग-द्वेष के वशीभूत होकर रहने से और वैराग्यवृत्ति का पोषण न करने से चित्त की चचलता बनी रहती हैं। अतएव जो मन को स्थिर करने के अभिलाषी हैं, उन्हे इन बातो से बचना चाहिए। कदाचित् ससार का त्याग पूरी तरह से न किया जा सके तो भी अधिक से अधिक तटस्थ भाव जीवन मे उत्पन्न करना चाहिए और दुनिया की वस्तुओ मे लिप्त नही होना चाहिए।

आपको मालूम होना चाहिए कि सिद्ध भगवान् भी पहले कभी हम और आपके समान ही थे। उन्होने धीरे-धीरे उत्थान किया। उन्हे सर्वप्रथम आत्मा पर विश्वास हुआ। जिसे आत्मा पर ही विश्वास न हो, वह आगे कैसे बढ सकता है? आत्मविश्वास साधना की प्रथम सीढी है। इसके अभाव मे न कोई सच्चा साधक कहला सकता है और न साधना ही कर सकता है।

हाँ, तो सिद्ध भगवान् पहले-पहल आत्मविश्वास के बल पर आगे बढे और धीरे-धीरे साधना के क्षेत्र मे अग्रसर होते-होते सिद्धि-लाभ करने मे समर्थ हो सके। उनकी साधना की विधि शास्त्रो मे लिखित है और वह इसलिए लिखी गई है कि हम आप जैसे साधक उसमे अपने साधनामार्ग को समझ सकें।

बच्चा जब छोटा होता है तो खडा नही हो सकता। फिर वह खडा होने का प्रयत्न करता है और लडखडा कर गिर पडता है। इस

प्रकार वार-वार गिरते-पडते उसमे मजवूती के साथ खडा होने की शक्ति आ जाती है। अगर गिरने के भय से वह खडा होने का प्रयत्न ही न करे तो कैसे उसके ढीले चरणो मे ताकत आएगी ? उसका खून जम जायगा। फिर उसका खडा होना असम्भव हो जाएगा।

वालक को प्रकृति से ही खडा होने की प्रेरणा प्राप्त होती है। प्रकृति उसे विकास का अवसर देती है। वह पुरुपार्थ करते-करते खडा होने लगता है। फिर अभ्यास वढा कर चलने लगता है और फिर भागने लगता है।

इसी प्रकार आत्मा मे अनन्त शक्तियाँ हैं, परन्तु उनका विकास तभी होता है जव उन्हे काम मे लाया जाय। विकास के लिए अभ्यास करना चाहिए।

शरीर के अङ्गो से काम लेने से ही वे मजवूत वनते है। वेकार रहने से शून्यवत् वन जाते हैं। आम तौर पर लोग दाहिने हाथ से लिखते हैं, परन्तु क्या वाए हाथ मे ऐसी योग्यता नही कि उससे लिखा जा सके ? है क्यो नही, पर उससे लिखने का काम नही लिया गया। अतएव उसकी योग्यता का विकास नही हुआ है। जो लोग वाए हाथ से लिखने का अभ्यास करते है, वे उससे उसी प्रकार सफलता, सुन्दरता और तीव्रता के साथ लिखते हैं जैसे दूसरे लोग दाहिने हाथ से लिखते हैं।

तो स्पष्ट है कि जिस अग या उपाग मे काम नही लिया जाता, वह जडवत् हो जाता है। इसी प्रकार ससारी जीव आत्मा की शक्ति का प्रयोग नही करते, अतएव आत्मा की शक्तियाँ कुण्ठित हो गई है। उन कुठित शक्तियो को सजीव, क्षमतायुक्त और

कारगर बनाने के लिए आवश्यक है कि उनका विवेकपूर्ण उपयोग किया जाय ।

जो आत्मा की शक्तियो से अपरिचित है, वे वस्तुत अनात्मज्ञ हैं और जो आत्मा को ही नही पहचानता, वह अन्य पदार्थों को भी समीचीन रूप मे नही पहचान सकता। उसका अन्य पदार्थों सबधी ज्ञान, फिर वह कितना ही सूक्ष्म और विस्तृत क्यो न हो, मिथ्या है। ऐसे अनात्मज्ञ लोग, जब देश या धर्म का कोई काम आ पडता है तब कहते है—हम मे इतनी शक्ति नही है ! हम से यह न होगा ! किन्तु—

न हो सकेगा यह काम भाई—
कभी न बोलो, यह हीनताई ।
न क्यो सकोगे कर जो विचारो,
अधीरता को मन से निकारो ॥

मैं असमर्थ हूँ, हीन हूँ, दीन हूँ, इस प्रकार की हीन भावना को जो दिल से निकाल फेंकते है और अपनी शक्ति पर भरोसा रख कर कार्य मे जुट जाते हैं,उनके लिए कोई भी काम कठिन नही रह जाता। वे जो चाहते हैं वही कर गुजरते है ।

हे आत्मन् ! तुझ मे वही शक्ति विद्यमान है जो परमात्मा मे है। बस, उसे समझ और काम मे ला।

जो अपनी शक्ति का उपयोग नही करते, वे दूसरे का कुछ नही बिगाडते, अपनी ही शक्ति का ह्रास करते हैं। काम न करने से प्रथम तो प्राप्त शक्ति का उपयोग नही होता, दूसरे शक्ति का विकास भी नही होता ।

शक्ति होने पर भी जो उसे काम मे नही लेता, वह चोर है, अपने ही प्रति अपराधी है। तपस्या करने की शक्ति होने पर भी जो तपस्या नही करता, वह तपस्तेन अर्थात् तपस्या का चोर है, ऐसा शास्त्र मे कहा है। उसे अगले भव मे जाकर पश्चात्ताप करना पडता है। जो देवलोक मे चले तो जाते है, मगर उत्तम ऋद्धि नही पाते, वे झूरते है और कहते है—'आह, मैं ने शक्ति के अनुसार तपस्या नही की, दु खी का दु ख दूर नही किया, इस कारण मुझे उत्कृष्ट ऋद्धि से वचित होना पडा।'

यद्यपि शास्त्र मे स्पष्ट आदेश है कि स्वर्गीय सुखो की अभिलाषा से तपस्या नही करनी चाहिए, तथापि तपस्वी को आनुषगिक रूप मे देवलोक के सुख प्राप्त हो ही जाते हैं। बीच मे कुछ विश्राम करना ही चाहिए।

शक्ति को चुराना भी चोरी है। किसी साधु को कृशकाय देखकर कोई प्रश्न करता है—अमुक प्रसिद्ध तपस्वी क्या आप ही हैं? वास्तव मे वह साधु दूसरा है, तपस्वी नही है, मगर मुफ्त मे मिलने वाली प्रतिष्ठा का त्याग न कर सकने के कारण वह स्पष्ट नही कहता कि—नही, वह प्रसिद्ध तपस्वी दूसरे है—मैं नही हूँ, साथ ही मृषावाद के भय से स्पष्ट रूप से यह भी नही कहता कि—हां, मैं वही तपस्वी हूँ। वह गोलमोल उत्तर देता हुआ कहता है—भाई, तपस्या करना तो साधु का कर्त्तव्य ही है। मुझसे जितनी तपस्या बनती है, कर लेता हूँ। वह भी प्रसिद्धि के लक्ष्य से नही करता।

इस प्रकार के उत्तर से प्रश्नकर्त्ता को यह खयाल हो सकता है कि वास्तव मे यह वही प्रसिद्ध तपस्वी हैं। अतएव ऐसा उत्तर देने वाले को शास्त्रकार 'तपस्या का चोर' कह कर पुकारते हैं।

वचनशक्ति होने पर भी उसका उपयोग न करना और आलस्य मे पडे रहना भी शक्ति की चोरी है। बोलना भी बडी महत्त्वपूर्ण कला है और कठिन काम है। दिमाग बडा नाजुक है। इसके साथ युद्ध करना मुश्किल है। ध्यान रखना पडता है कि कही अर्थान्तर न हो जाय, अनर्थ न हो जाय, शास्त्र, परम्परा और अपनी निज की मान्यता के विपरीत कोई बात मुँह से न निकल जाय। अपटु वक्ता बहुत बार ऐसी बात मुँह से निकाल देते हैं जो उनके विचार के भी अनुकूल नही होती। बाद मे जब उनका ध्यान उसकी ओर जाता है तो उन्हे पश्चात्ताप होता है कि ऐसी बात उनके मुख से कैसे निकल गई।

बहुत बार वक्ता कुछ कहना चाहता है और कुछ कह डालता है। शब्दो का समुचित प्रयोग न करने के कारण अर्थान्तर हो जाता है। कभी दिमाग स्वस्थ न होने से भी इस प्रकार की भूल हो जाती है। अतएव वक्ता पर बडा उत्तरदायित्व रहता है। उसे अपने दिमाग को नियन्त्रित, स्वस्थ और शान्त रखना चाहिए। उत्तेजना के वशीभूत होकर यद्वा-तद्वा शब्दोच्चारण नही करना चाहिए। जैसे मोटर चलाते समय ड्राइवर बराबर ध्यान रखता है, वक्ता को उससे भी ज्यादा ध्यान रखना पडता है। मगर वक्ता के इस उत्तरदायित्व को इतर जन नही समझ सकते। नीतिज्ञ कहते हैं—

न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम्।

बाझ स्त्री को क्या पता कि प्रसव की पीडा कैसी होती है? प्रसवधर्मिणी ही उसे समझती है।

अभिप्राय यह है कि जो शक्ति मिली है, वह सदुपयोग करने के लिए ही है। शक्ति का दुरुपयोग करना जैसे बुरा है, सदुपयोग न करना भी उतना ही बुरा है।

जो पुरुष अपनी वक्तृत्वशक्ति का प्रयोग करके वीतरागवाणी का प्रसार करता है, यदि उत्कृष्ट रसायन आ जाय तो उसे तीर्थंकर-गोत्र का बंध होता है। परन्तु आज के कितनेक साधु तो भाषण करने मे भी सकोच करते है। गाठिया खाये-पिये और पडे रहे।

ठाणागसूत्र का कथन है कि साहित्य का पठन पाठन न करने से वह नष्ट हो जाता है। सम्प्रदाय-गच्छ का आधार साहित्य ही है। पाया निकल जाने पर भवन भी गिर जाता है।

मगर आज की तो वात ही निराली है। कई साधु सेठ के आने पर प्राइवेट रूम मे चले जाते है और एकान्त मे बाते करते है। स्पष्ट है कि वे गुप्त वार्त्तालाप करने के लिए ही ऐसा करते है। दूसरो से कुछ छिपाना चाहते है। मगर इस प्रकार का व्यवहार क्या साधुजीवन से सगत है ? साधु की क्रिया खुली है। उसके पास छिपाने योग्य कुछ भी नही होना चाहिए। जहाँ छिपी वात हो वहाँ समझना चाहिए कि मामला गडवड है। जहा प्राइवेट लिफाफा आवे, समझो कि वहाँ कुछ खोट है। गुरु की डाक जुदी आती है और चेले की डाक जुदी। मेरे ये साधु मेरी इजाजत के विना दो अक्षर भी नही लिखा सकते। पर गुरु और चेले की जुदी-जुदी डाक मैने आँखो देखी है। आखिर क्यो ऐसी गडवड चल रही है ? इससे धर्म की निन्दा होती है और सयमधारियो का स्तर दिन पर दिन गिरता जा रहा है।

आज समाज मे जो अनेक अवाछनीय घटनाएँ हो रही है, उनका एक कारण प्राइवेट लिफाफे भी है। अगर यह प्राइवेट पत्र-व्यवहार वद हो जाय तो कई बुराइयो का अन्त आ सकता है। साधुओ के पास पत्रव्यवहार करने को समय है, साध्वियो की डाक अलग, सेठ-सेठानियो की अलग, उन सब को उत्तर लिखना है। मगर

स्वाध्याय के लिए समय नही है। यह सब परिस्थिति अगर कायम रहती है तो भविष्य मे और भी अधिक भयकर परिणाम आ सकते हैं।

इस कथन का अर्थ यह न समझिए कि सब साधु एक सरीखे हैं। भाग्यवान् और सयमपरायण साधुओ की नास्ति नही है। सरलात्मा भी हैं और रहेगे। एक कवि ने कहा है—

छोड घरवास वनवास को चालिया,
पिछले भेष का भ्रम भागा।
नाम अतीत और सकल सौदे करे,
देखवे जोग को रोग लागा।

वणज-वट्टा करे खेत-कूवा चले,
गाय घोडी घर ठाण देवे।
हाथ खुरपा लिये घास खोदे सदा,
कहो जी किस विध नाम लेवे॥

जो बावाजी गाय-भैंस के लिए घास खोदने मे लगे रहते हैं, उन्हे प्रभुभजन के लिए फुर्सत कहाँ! साधु का नाम अतीत अर्थात् गृहस्थी सम्बन्धी व्यापारो से रहित है, परन्तु आज 'सकल सौदा करे।' दुनियादारी के सब कामो मे भाग लेते हैं। इसे कहते हैं योग मे रोग का लगना!

सुना जाता है कि कई साधु कहलाने वाले प्राइवेट पूजी भी रखते हैं। थोडे समय पहले की बात है—एक तपस्वी मिले। वे गृहस्थो से दाम लेकर ओघे-पूजणी आदि बनवाते, बेचते और इधर-उधर भिजवाते थे। क्या यह कलक की बात नही है? मैंने उनमे

कहा—साधुवेप के साथ यह क्रिया ठीक नही है। इस प्रकार की झझटो से दूर हो जाओ। साधु को व्यापार करके क्या करना है ? तव उन्होने कहा—'मेरे पास कोई मुनीम-गुमाश्ता नही है, अतएव मैं स्वय यह सव करता हूँ। वड़े-वडे नामी सन्त मुनीम-गुमाश्तो से सव करवा लेते हैं।' यह कितने दु ख और परिताप की वात है ? अगर यही ठर्रा चालू रहा तो साधुसस्था की क्या स्थिति होगी ?

विश्वेश वीर भगवन्, सुधि लीजिए हमारी,
देवाधिदेव रक्षा, अव कीजिए हमारी ॥ टेक ॥
माया को त्याग कर के भी माया न त्यागते हैं।
रखते सदा हृदय मे माया कपट-कटारी ॥

एक सच्चा साधु प्रभु से हृदयद्रावक प्रार्थना करता है। वह साधु सस्था के वर्तमान रग-ढग को देख कर व्यथित है, मानो पीडा से कराह रहा है। समाज के शिरोमणि समझे जाने वाले अपने उच्च स्थान को भूल कर नीचे खिसक गए हैं, उन्हे अपनी पवित्र प्रवृत्तियो का भान नही रहा है। यह देख कर किसी भी धर्मनिष्ठ व्यक्ति के चित्त को व्यथा होना स्वाभाविक है। इसी व्यथा से व्यथित होकर यह प्रार्थना की गई है। वह कहता है—कितनी वडी विडम्वना की वात है कि यह माया—लक्ष्मी के त्यागी होकर भी माया अर्थात् दगावाजी को नही त्यागते है। वाहर से कोई शस्त्र न रखते हुए भी हृदय मे कपट की कटारी छिपाये हुए है !

शस्त्र दो प्रकार के होते हैं—द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र। लोहे-लकडी आदि से वने हुए द्रव्यशस्त्र कहलाते है और क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेप आदि आन्तरिक विकार भावशस्त्र हैं। द्रव्य-शस्त्र स्थूल होते हैं, अतएव स्थूल नेत्रो से नजर आ जाते है। उनको

छिपा कर रखना कठिन होता है। परन्तु भावशस्त्र सूक्ष्म होते हैं और चर्मचक्षु से दृष्टिगोचर नही होते। अतएव उन्हे रखने से भी सर्वसाधारण मे प्रतिष्ठा भग होने का खतरा नही रहता। यही कारण है कि जो लोग द्रव्यशस्त्रो का त्याग कर देते हैं, वे भी भाव-शस्त्रो को सुरक्षित रखते हैं।

किन्तु भावशस्त्र क्या कम खतरनाक है? नही, वह द्रव्यशस्त्रो से भी अधिक और बहुत अधिक खतरनाक होते हैं। द्रव्यशस्त्र दूसरो का घात करते हैं तो भावशस्त्र शस्त्रधारक का ही घात करते है। द्रव्यशस्त्र एक बार मौत का कारण बन सकता है, परन्तु भावशस्त्र जन्म-जन्मान्तर मे मरण का कारण बनता है।

जहाँ परिग्रह है, मूर्छा-ममता है, वहाँ कषायो का होना अनि-वार्य है। अतएव साधु को परिग्रह से सैकडो कोस दूर ही रहना चाहिए। पचो की साक्षी से, गाजे-बाजे और समारोह के साथ जिसे परण कर लाये, उसको भी त्याग दिया और मुनिव्रत अगीकार किये, फिर भी चाह न गई! द्रव्य की तथा कीर्त्ति की कामना ज्यो की त्यो बनी रही!

परणी हुई प्रिया का प्रेम त्याग दीना,
फिर भी गले लगा ली यह चाहना-चमारी।
तृष्णा-तरगिणी मे गोते लगा रहे हैं,
शिष्यो की लालसा मे नियमावली विसारी॥

जिसने विवाहिता पत्नी का परित्याग करके चाहना-चमारी से रिश्ता कायम किया है, उसका वह त्याग धिक्कार के योग्य है। जो लोग तृष्णा की नदी मे गोते खाते रहते हैं अर्थात् कामनाओ के

ही चक्कर मे पडे रहते हैं और चेलो को वलवती चाह के वश होकर साधुजीवन के नियमो को ताख मे रख देते हैं, उनका वह जीवन बेकार हो जाता है। वे न इधर से रहते हैं, न उधर के रहते है। उनके विषय मे यही कहावत चरितार्थ होती है कि—

दोई दीन से गये पाडे,
हलुवा मिला न माडे।

सच्चा मुनि दिल खोलकर प्रभु के सामने रख देता है। भगवान् भव-रोग के अद्वितीय वैद्य है। उनकी दवा से समस्त व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। वे अमूल्य और अमोघ औषध देते है। मगर रोगी शैतान हो, दी हुई पुडिया फेंक दे या कुपथ्य करे, खटाई वगैरह हानिकारक वस्तुओ का सेवन करे तो वैद्य का क्या दोष है? पथ्य के विना काम नही चलता। सौ दवा और एक पथ्य वरावर है। खाने-पीने मे सयम रखने वाला विना औषध ही बीमारी मिटा लेता है। पथ्य से आरोग्य की प्राप्ति होती है। मगर चटपटी चीजे सामने आती हैं और यह लाली बाई (जीभ) ललचा जाती है। इसे आरोग्य अनारोग्य से कोई मतलब नही, स्वाद चाहिए। क्षण भर की तृप्ति चाहिए। यह जान-बूझकर भी कुपथ्य सेवन करती है।

शादी के समय अनेक लोग वरयात्रा मे गये साक्षी बनने के लिए। वाद्यो की तुमुल ध्वनि के साथ किसी कुलीन कन्या का पाणिग्रहण किया, परन्तु उसको भी त्यागकर त्यागी बने। मगर उसे त्यागने के पश्चात् भी चमारी के साथ नाता कर लिया! वह चमारी चाह है, तृष्णा है, लालच है।

चाह चूहडी चाह चमारी, चाह नीचन को नीच।
तू तो पूरण ब्रह्म था, गर चाह न होती बीच॥

चाह ने सारा गुड गोबर कर दिया । चाण्डाली का स्पर्श नही करते मगर चाह रूपी चाण्डाली को हृदयासन पर विराजमान कर रक्खा है ! सुशीला को छोड कर कुटिला के पजे मे पड गया । अगर यही करना था तो त्यागी का वाना धारण करने की क्या आवश्यकता थी ? साधु वनकर सयम का पालन न करने की अपेक्षा तो देशव्रती होकर रहना ही वेहतर है । शास्त्र मे भी कहा है —

सति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था सजमुत्तरा ।

अर्थात्—किन्ही-किन्ही भिक्षुओ की अपेक्षा गृहस्थ भी सयम मे आगे होते हैं ।

यह वचन ऐसे ही लोगो के सम्वन्ध मे है जो साधु जीवन अपनाने की प्रतिज्ञा करके भी साधु के नियमो का पालन नही करते । ऐसे लोग न श्रावक की कोटि मे और न साधु की कोटि मे ही गिनने योग्य होते हैं । वे सागार धर्म और अनगार धर्म, दोनो से ही पतित है ।

आज बडी विचित्र स्थिति है । साधु जीवन की मुख्य प्रवृत्ति स्वाध्याय, ध्यान, तपश्चरण आदि करके आत्मा का कल्याण करना और साथ ही विपयासक्त ससारी जीवो को वीतरागप्ररूपित धर्म का पथ दिखलाना है । पर इस ओर कितने ध्यान देते हैं ? जिनके पास वचन का वल है और जो उस वल का प्रयोग करके अनेको का निस्तार कर सकते है, वे भी प्रमाद मे पडे रहते और सोचते है कि—

किस-किस की फिक्र कीजिए, किस-किस को रोइए ।
आराम वडी चीज है, मुँह ढक के सोइए ॥

यह इन्द्रियलोलुप और स्वार्थी जीवो के मनोभावो का विश्लेपण है । उनका मन्तव्य होता है—

कोई मरे कोई जिये, खुसरा घोल पतासा पीये।

बस, हमारा समय आनन्द मे व्यतीत होना चाहिए। हम गुलछर्रे उडाते रहे। हमारी चैन की वशी वजती रहे। फिर दुनिया मे चाहे कुछ भी हो, हमे इससे कोई सरोकार नही। कोई मतलब नही।

एक कवि ने पृथिवी स पूछा—माता, तेरे ऊपर कितना बहुत वोझ है! एक लाख योजन का सुमेरु पर्वत तेरी छाती पर खडा है। उसके सिवाय अन्य असख्य पर्वत, पेड, नदी-नाले आदि भी तेरी छाती पर जमे है। क्या तुझे इन सब का वोझ नही लगता? तब पृथ्वी ने कहा—

न हि मे पर्वता भारा न मे भाराश्च सागरा।

अर्थात्—नही, मुझे इन पर्वतो और सागरो का वोझ नही लगता। स्वयभूरमण समुद्र के वोझ से भी मैं पीडा का अनुभव नही करती। मुझे अगर किसी का भार असह्य है तो वह विश्वासघातका का भार है।

भारा विश्वासघातका.।

विश्वासघात करने वालो के भार से मैं रसातल की ओर जा रही हूँ। जो लोग मुझमे खाते है परन्तु वदले मे किसी का कोई उपकार नही करते, उन कृतघ्नो और विश्वासघातियो के वोझ से मैं दवी जा रही हूँ।

वास्तव मे जो दूसरो से अपनी सुख-सुविधा प्राप्त करते हैं, उन्हे दूसरो के भी काम आना चाहिए, अपनी स्थिति और योग्यता के अनुसार उनका उपकार करना चाहिए। जो ऐसा नही करते वे अपने कर्त्तव्य से च्युत होते हैं।

शास्त्र मे कहा है कि अठारह पापो मे प्रवृत्ति करने से जीव भारी बनता है और नीचे जाता है। तूबे का स्वभाव पानी की सतह पर तैरने का है, परन्तु पत्थर बांध देने से वह नीचे जाता है। इसी प्रकार आत्मा भी स्वभाव से ऊर्ध्वगमनशील है, परन्तु अठारह पापो की अठारह शिलाएँ बंधी होने से वह भवसागर मे डूबती है—अधोगति मे जाती है। जैसे-जैसे जीव पापो का परित्याग करता जाता है, वैसे-वैसे हल्का होता जाता है। यद्यपि पत्थर, लोहा, तावा आदि भार हैं, पर पाप का भार सब से बडा है।

इस जगत् मे सब से बडा बुद्धिमान् और विवेकवान् वही है जो अपनी आत्मा को पाप के भार से बचाता है। यह ठीक है कि प्रत्येक के लिए प्रत्येक पाप से बचना सरल नही है तथापि निरर्थक पाप से बचने मे कोई कठिनाई नही है और निरर्थक पापो से बचने वाला भी बहुत नफे मे रहता है। उदाहरण के लिए वचनशक्ति को ही लीजिए। मनुष्य जैसे शरीर से और मन से पाप का उपार्जन करता है, उसी प्रकार वचन से भी करता है। अगर वचन से निरर्थक पाप का त्याग कर दिया जाय तो गृहस्थी सबन्धी कार्यो मे कुछ भी रुकावट नही होगी, मगर बहुत-से पापो से बचाव अवश्य हो जाएगा।

वचनशक्ति यो ही नही मिल गई है। एकेन्द्रिय दशा मे जब तक आत्मा रहा तब तक उसे जिह्वा इन्द्रिय भी प्राप्त नही थी। किसी प्रकार कोई पुण्य उदय मे आया और द्वीन्द्रिय अवस्था प्राप्त हुई तो जिह्वा मिली। फिर भी स्फुट वाणी नही प्राप्त हो सकी। मनुष्य गति मे जन्म हुआ और अविकल जिह्वा मिली तो स्पष्ट उच्चारण करने की क्षमता आई। इस क्षमता को प्राप्त करनेके लिए

अनन्त पुण्य की पूंजी व्यय करनी पडी है। और अव, जवकि जिह्वेन्द्रिय प्राप्त है तो उससे धर्म-पुण्य की वृद्धि करनी चाहिए न कि पाप का उपार्जन करना चाहिए। पुण्य से प्राप्त साधन को पाप का कारण वना लेना मूर्खता की पराकाष्ठा है। •

अरे जीव! अगर तू अपनी जीभ से परमात्मा का गुण-गान करे, सन्तो की स्तुति करे, वीतराग की वाणी का पाठ करे और दूसरो को सुनावे तो तेरी क्या हानि हो? तेरा भी भला हो, दूसरो का भी भला हो। तेरी जीभ सार्थक हो जाए और भविष्य मगलमय वन जाए। परन्तु तू तो उलटी राह चलता है। निन्दा, चुगली और विकथा करके पाप की वृद्धि करता है।

आज के कितनेक साधु धर्मसाधना मे पसीना वहाना नही चाहते और धर्मोपदेश देने से कतराते हैं। वे वचन के चोर हैं।

कोई साधु वक्तृत्व मे कुशल है, प्रखर वक्ता है। उसकी वहुत ख्याति है। किसी अनजान व्यक्ति ने किसी दूसरे साधु से पूछा—क्या वह प्रखर वक्ता आप ही है? तव वह उत्तर देता है—क्या रोटियाँ खाने के लिए ही साधु वने है? इस प्रकार का कपटपूर्ण उत्तर देने वाला साधु भी वचन का चोर है।

वचन के चोर की तरह भाव के भी चोर होते हैं। वहुत-से लोग दूसरे लेखको और विचारको के भावो का अपहरण करके अपने नाम पर चढा लेते हैं। कोई दूसरो से लेख-पुस्तक आदि लिखवा कर अपने नाम से उसे प्रसिद्ध करते हैं। ऐसा करने वाले भाव के चोर कहलाते हैं। भाव दूसरे के और मालिक आप वन गया। दूसरे की चीज पर अपने नाम का लेविल लगा दिया! यह चोरी है। सरकार

भी इसे चोरी मानती है और ऐसे चोरो पर मुकदमा चल सकता है। यहाँ तो घूँस भी काम दे सकती है परन्तु कर्म के सामने कुछ भी नही चलेगा, कोई तरकीव काम न आएगी।

इसी प्रकार आचार के भी चोर होते है। नीवू या केरी के आचार के चोर नही, चारित्र के चोर से यहाँ अभिप्राय है। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार आदि पाँच आचार, जो जैनागमो मे प्रसिद्ध हैं, उन्ही का यहाँ ग्रहण करना चाहिए। इन आचारो मे निष्ठ किसी सन्त की वहुत ख्याति हो। किसी मैले कपडे वाले को कोई पूछे कि क्या आप ही वह क्रियापात्र है ? तब वह चालाकी से उत्तर दे कि साधु तो चारित्रवान् होते ही है। इसमे पूछने की वात ही क्या है ? ऐसा कहने वाला आचार चोर है।

इस प्रकार की चोरी करने वाले लोग किल्विपी देव वनते हैं—तीन पलिया, तीन सागरिया या तेरह सागरिया। वे सम्यक्त्व से विहीन होते है। देवगति की आयु पूर्ण होने के पश्चात् उन्हे वकरा आदि मूक पशुओ के रूप मे जन्म लेना पडता है।

तो अभिप्राय यह है कि मनुष्य को जो शक्तियाँ प्राप्त है, उन का सदुपयोग करना चाहिए। अन्यथा देवलोक मे जाने पर भी उसे पश्चात्ताप करना पडता है कि—ज्ञान लेने का अवसर और सामर्थ्य होने पर भी मैं ने ज्ञान प्राप्त नही किया। परन्तु जब तीर हाथ मे निकल गया तो पश्चात्ताप करने से भी क्या होता है ? मक्खी दोनो हाथो से माथा कूटती है। कभी आप लोगो ने देखा है ?

'जी हाँ।'

'भला क्यो कूटती है ?'

एक दिन की वात है। वादशाह अकवर का दरवार लगा

था। सब राजकर्मचारी यथास्थान वैठे हुए थे। वादशाह के ऊपर वैठकर मक्खी दोनो हाथो से माथा कूटती है—हाथ घिसती है। यह देखकर अकवर ने वीरवल से पूछा कि—

किहि कारण हाथ घिसे मखिया ?

तव वीरवल ने उत्तर दिया—

टेंट करी भर यौवन मे गुरुदेव की सेव न कर सकिया,
दिन-रात पच्यौ धन-यौवन मे परतिरिया देख रची अँखियाँ,
दान न मान भज्यौ भगवान् झूठ की वात सदा अँखियाँ
तिन कारण राजन् वापडी यह सिर कूटत हाथ घसे मखिया।

वीरवल मे औत्पत्तिकी वुद्धि विशेष थी। वह अवसर के अनुसार वात कहता था, क्योकि—

मीठी भी फीकी लगे, विन अवसर की वात।
फीकी भी मीठी लगे, अवसर केरी वात॥

राम का नाम सत्य है, पवित्र है, मगर किसी विवाह के अवसर पर अगर कोई 'राम नाम सत्य है' का नारा वुलन्द कर दे तो कितना अप्रिय होगा ? लोग उसे अमगल समझेंगे और लडने पर आमादा हो जायेंगे।

इसके विपरीत, अगर कोई वात फीकी हो, फिर भी मौके पर कही गई हो तो वह मीठी लगती है। वरात मे गालियो के विना वहुतो का मनोरजन ही नही होता।

हाँ, तो वीरवल को मन की वात कहने का अवसर मिल गया। उसने कहा—जहापनाह ! यह मक्खी पूर्वजन्म मे आपकी तरह राजा थी, परन्तु इसने करने योग्य काम नही किये। जवानी मे

अभिमान किया। गुरु की सेवा नही की। विपुल वैभव होने पर भी दान नही दिया। वडो का आदर सत्कार नही किया, अकड मे भूला रहा। भगवान् का नाम नही लिया। वह राजा भी किस काम का जो भगवान् को भुला दे ?

ते सुख माथे धूल पडो जो प्रभु से दूर कराय।
वलिहारी उस दुख की, प्रभु से देत मिलाय ॥

तो उस राजा ने सत्यभाषण नही किया। पराई वहिन-वेटी को देखकर आँखे ललचाई। यह सव दुष्कर्म स्मरण करके आज यह मक्खी माथा घिस रही है और आपको सावधान कर रही है।

वादशाह ने मुस्करा कर कहा—क्या तुम इसी अवसर की ताक मे वैठे थे ?

वीरवल के कथन से वादशाह को वोध मिला।

आठवें देवलोक के देवता भी कर्म के वशीभूत होकर शूकरी के गर्भ मे उत्पन्न हो जाते हैं। मिनिटो मे नक्शा बदल जाता है। अतएव मनुष्य को पहले ही सचेत होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए।

जो साधु होकर भी कपट की माया मे मुक्त नही होते वे अपने को धोखा देते हैं और जगत् को धोखा देते है। जिसके चित्त मे कपट भरा है, उसका मन अरिहन्त के गुणग्राम मे स्थिर नहीं हो सकता। आपको विदित है कि जिसके पास माल है वह अपनी दुकान पर टिकता है, परन्तु विना माल का मनुष्य इधर-उधर भटकता है। ऐसे आवारा मनुष्य को सरकार गिरफ्तार कर लेती है।

जीवन का कोई लक्ष्य होना चाहिए, आदर्श होना चाहिए,

आत्म-देश-जाति के उत्थान का उद्देश्य मनुष्य के सामने होना चाहिए। जिस जीवन का कोई उद्देश्य नही है, वह प्रशस्त नही होता। अतएव अपने जीवन का एक उद्देश्य निश्चित कर लो और उसकी प्राप्ति के लिए ही अपनी शक्तियो का प्रयोग करो। वचन-शक्ति को केन्द्रित कर लेने पर भी जवतक मन की शक्ति केन्द्रित नही की जाएगी, तवतक यथेष्ट लाभ न होगा। मन का केन्द्रीकरण आत्मा को वल प्रदान करता है। वाणी का काम वोलना है और मन का काम मतलव समझने का है। दोनो का जव समन्वय होता है तभी काम चलता है।

जैसे कान के साथ शब्दो के टकराने से नीद उडती है, उसी प्रकार आत्मा के साथ भगवद्वाणी का सम्वन्ध होने से आत्मा मे जागृति आती है। विजलीघर से तभी विजली घर के वल्व मे आती है जव घर का तार विजली घर के तार से लिपट जाता है। अतएव अगर आप अपनी आत्मा को जागृत करना चाहते हैं, आत्मा मे प्रकाश उत्पन्न करना चाहते हैं और परमानन्द की प्राप्ति चाहते हैं तो आपको परमात्मा के साथ अपनी आत्मा को जोड देना चाहिए। इसी से आप को सिद्धि प्राप्त होगी।

वोलो भगवान् महावीर की जय।

राजकोट
२०—८—५४

भगवद्भजन

धर्म प्रेमी वन्धुओ और वहिनो !

कल आपको वतलाया था कि परमानन्द की प्राप्ति के लिए आत्मा को परमात्मा के साथ जोड देने की आवश्यकता है। मगर परमात्मा का स्मरण करने वाला साधक (जो मनुष्य के शरीर मे ही केवल ज्ञान केवल दर्शन प्राप्त कर महान आत्माएँ शाक्षात् भगवान् वन गई है) उनके हाड-मास के शरीर का स्मरण नही करता, न उनके राजावस्था के मुकुट या शृगार का ही स्मरण करता है। शरीर और शरीर के आभूषण आदि अन्य पदार्थों की ओर आकर्षित होकर उनका चिन्तन करना तो उदयभाव की वात है। स्मरण करने वाला सच्चा भक्त तो भगवान् मे रहे हुए गुणो का ही स्मरण करता है। जिन विशेषताओ या खूवियो के कारण भगवान् भगवान् कहलाए, वही भक्त के लिए स्मरणीय हैं। उन्ही के स्मरण से भक्त की आत्मा मे भागवती शक्ति का अविर्भाव होता है।

परन्तु भगवान् के गुणो का सच्चा स्मरण कव कहा जाता है ? जव भक्त अपने तीनो योगो को—मन, वचन और काय को, प्रभु के प्रति समर्पित कर देता है। योगो को दुनियादारी के कामो से हटाकर प्रभु के गुणो मे लगा देना ही सच्चा प्रभुस्मरण है। इस प्रकार के स्मरण से निस्सन्देह शान्ति प्राप्त होती है।

दुर्गुणो और विषय-विकारो का चिन्तन आत्मा के शान्तिरस को विकृत करने वाला है। अग्नि, सूर्य और धूप की तरफ देखने से आँखो को अशान्ति प्राप्त होती है और जलाशय की तरफ देखने से शान्तिलाभ होता है। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए न किसी पण्डित की सम्मति की आवश्यकता है और न शास्त्र के पन्ने पलटने की। जो बात अनुभव से सिद्ध है, वह स्वत प्रमाणित है।

पानी मे अशान्ति नही है तो वह अशान्ति कहाँ से देगा ? वह स्वभाव से शीतल है तो शान्ति ही प्रदान करता है। हाँ, जो पानी अग्नि के ससर्ग से सतप्त है, वह दूसरो को भी सताप पहुँचाता है।

पानी का गर्म होना स्वाभाविक नही, वैभाविक है। अग्नि रूप परपदार्थ के सयोग से उस मे उष्णता का विकार उत्पन्न होता है। इसी प्रकार आत्मा मे स्वभावत अनन्त शक्ति विद्यमान है, परन्तु कषाय राग-द्वेष आदि पदार्थों के सयोग से उसमे अशान्ति उत्पन्न होती है। जितना-जितना पर-पदार्थों के साथ आत्मा का ससर्ग बढता जाता है,उतना-उतना ही आत्मा मे विकार बढता जाता है और जितना-जितना विकार बढता जाता है, उतना-उतना सताप बढता जाता है। अतएव जिन्हे आत्मिक शान्ति का लाभ करना है, उनके लिए सिर्फ एक ही उपाय है कि वे परपदार्थों के साथ स्थापित सम्बन्ध को काटते चले जाएँ और अन्त मे आत्मा के अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थों को भिन्न समझ कर सिर्फ आत्मा मे ही रमण करें और किसी भी पदार्थ के प्रति राग न रहने दें।

समस्त दु खो, कष्टो और पीड़ाओ का मूल कारण परपदार्थों मे आत्मभाव या ममभाव स्थापित करना है। इससे राग-द्वेष की वृत्ति को प्रसार मिलता है और राग-द्वेष ही दुःख है।

मूर्ख मनुष्य मानता है कि मुझे अमुक ने कष्ट दिया और मुक ने मेरा अनिष्ट किया, परन्तु सत्य यह है कि दु ख की सृष्टि मनुष्य के अन्त करण मे होती है। चित्त मे राग-द्वेष के जो बीज विद्यमान हैं, उन्ही से समस्त दु खो के अकुर फूटते है। अन्तरात्मा जीव इस तथ्य को समझता है पर वहिरात्मा नही समझता। यही कारण है कि उसके लाख प्रयत्न करने पर भी दु खो का अन्त नही आता है। परमार्थदर्शी पुरुष दु ख उत्पन्न होने पर किसी दूसरे पर उसका उत्तरदायित्व नही डालता, वरन् अपने आपको ही उत्तरदायी मानता है और दु ख के कारणभूत कर्मों के उन्मूलन का प्रयास करता है। ऐसा करने से प्रथम तो उसके चित्त मे दूसरो के प्रति विपमभाव उत्पन्न नही होता, दूसरे वह दु खो का अन्त करने मे भी समर्थ हो जाता है।

अगर कोई मुझसे पूछे कि अत्यल्प शब्दो मे समस्त शास्त्रो का सार क्या है ? तो मैं उसे यही उत्तर दूँगा कि—'राग-द्वेप को नष्ट करना।' इस छोटे-से वाक्य मे ही विस्तृत शास्त्रो का रहस्य अन्तर्गत हो जाता है। इसी प्रयोजन के लिए शास्त्रवर्णित साधना है। जिसने साधना करके भी राग-द्वेप का क्षय न कर पाया, उसकी साधना निष्प्रयोजन है। जिसने राग-द्वेप का अन्त करके वीतरागता प्राप्त कर ली, उसे साधना की कोई आवश्यकता ही नही रही। वीतरागता प्राप्त होते ही आत्मा इतनी स्वच्छ और निर्मल हो जाती है कि सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता अनायास ही प्रकट हो उठती है और आत्मा परमात्मा का परम पद प्राप्त कर लेता है।

इस उन्नत अवस्था को प्राप्त करने के लिए हमे सदैव वीत-रागता का आदर्श अपने समक्ष जीवित रखना चाहिए। हमारा उपास्य

देव भी इसी प्रकार का वीतराग होना चाहिए और हमारे पथप्रदर्शक गुरु मे भी वीतरागता की साधना चाहिए।

हमारा आदर्श, जिसे भगवान् कहो, ईश्वर कहो या परमात्मा आदि किसी दूसरे नाम से पुकारो, अगर स्वय क्रोधी, मानी, मायावी या लोभी हो, कषायो की आग से सतप्त हो तो वह हमे कैसे शान्ति पहुँचा सकेगा ? स्वय जलने वाली आग से हम शीतलता पाने की आशा नही कर सकते।

पानी देखने से, उसके सन्निकट वैठने से और उसमे डुवकी लगाने से शान्ति मिलती है। इसी प्रकार निर्विकार, निर्दोष, वीतराग परमात्मा के स्तवन, कीर्त्तन, और गुणगान मे आन्तरिक शान्ति प्राप्त होती है। भगवद्गुणो मे डुवकी लगाने से पूर्ण शान्ति मिलती है, क्योकि वे गुण भक्त मे भी जागृत हो जाते है और वह भी सिद्ध वन जाता है।

प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिए, चाहे वह लौकिक हो या आध्यात्मिक, द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव रूप चार कारण आवश्यक है। शुद्ध भाव की प्राप्ति के लिए ये चारो कारण शुद्ध होने चाहिएँ।

हमारा लक्ष्य शुद्ध भाव ग्रहण करने का है या अशुद्ध भाव ग्रहण करने का ? अशुद्ध भाव को ग्रहण करने का तो कोई प्रश्न ही उपस्थित नही होता, क्योकि जीव अनादि काल मे अशुद्ध भावो मे ही मस्त हो रहा है। उसके लिए नए सिरे से कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता ही नही है। अशुद्धता से शुद्धता की ओर जाने के लिए ही प्रयत्न करना आवश्यक है। जो आत्मा अशुद्ध से शुद्ध वनना चाहता है, उसे उस दिशा मे प्रयत्न करना चाहिए। प्यासे को जलाशय की ओर जाना ही पड़ता है।

ये उसे तहसनहस कर डालते है। धर्म के नाम से करोडो प्राणियो का खून कर दिया जाता है। पर जो इन्सान एक भी प्राणी को बनाने मे समर्थ नही है, उसे किसी को मारने का क्या अधिकार है ? हिन्दू लोगो मे भी धर्म के नाम पर हिंसा करने का रिवाज है। देवो-देवताओ के नाम पर बकरो और भैसो का बलिदान किया जाता है ।

खेद की बात है कि जैन कहलाने वाले भी धर्म के नाम पर एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा करते है। पर्व के दिनो मे भी, जब वे स्वय हरी वनस्पति नही खाते, भगवान् के सामने उसे चढाते है। सवत्सरी का दिन जैनो के लिए महान् पर्व का दिन है। इस दिन समस्त आस्रवो का त्याग करके सवर और दयाधर्म की आराधना की जाती है। पर्युषण के आठो दिनो मे अधिकाश जैन सचित्त वनस्पति के आहार का त्याग करते हैं। घर मे हरी नही आने देते और अपने बच्चो को भी हरी नही खिलाते, परन्तु भगवान् के सामने फूल-फल आदि सचित्त वनस्पति चढाते है।

भगवान् मे धन आदि मांगते है। ब्रह्मचारी मे छोकरा-छोकरियो की माँग करते हैं। छोकरा-छोकरी मैथुन-सृष्टि हैं। भगवान् से उनकी माँग करना कितना बडा अनर्थ है !

आज के भक्तो ने भगवान् के नाम पर करोडो रुपया इकट्ठा कर रक्खा है, जिसे 'देवद्रव्य' कहा जाता है। वह सेठद्रव्य नही, राजद्रव्य नही, देवद्रव्य कहलाता है। जिस देव का वह द्रव्य है, वह कौन है ? वह परम वीतराग देव है जो देवाधिदेव तथा परिग्रह से सर्वथा रहित है। कितना आश्चर्य ! कितना विस्मय ! मगर किसे कहे ? और कौन सुनता है ?

देवद्रव्य की व्यवस्था करने के लिए अनेक गुमाश्ते काम करते है। बहुत बडी पीढी चल रही है, इतनी बडी पीढी कि शायद राजकोट मे भी उसकी बराबरी की कोई पीढी नही होगी।

असल मे लोग छुप कर तीर चलाते है। भगवान् की आड मे अपनी स्वार्थवृत्ति का पोषण करते है।

देवद्रव्य की समस्या को लेकर दो दल हो गये है। एक दल, जिसमे साधु और श्रावक दोनो सम्मिलित है, इन्किलाब-क्रान्ति चाहता है। उस दल का कहना है कि जिन भगवान् को भूषणो, भवनो और वस्त्रो की आवश्यकता नही, उनके नाम पर लाखो-करोडो रुपया जमा कर रक्खा गया है और उन्ही भगवान् के भक्तो के लिए, जिन्हे रोजगार और रोटी की आवश्यकता है, उसमे से एक फूटी कौडी भी खर्च नही की जाती। यह कहाँ तक उचित है? पिता के छोकरे-छोकरी भूखो मरते हैं, उन्हे तन ढँकने को सादा वस्त्र भी नही मिलता है! लानत है उस धन पर जो छोकरा-छोकरियो के काम न आवे। जिनको जरूरत है उनके काम न आवे और मुखिया लोग उस धन से अपना व्यापार चलावे मुनाफा कमाएँ और मौज करे। कहते है—देवद्रव्य का उपयोग करने वाला नरक मे जाता है, परन्तु क्यो नरक मे जाएँ? बाप का धन खाने वाले बेटे नरक मे क्यो जाएँगे? भगवान् तो सब से बडे पिता है, उनके द्रव्य का उपयोग कौन करेगा? आखिर भगवान् तो उस द्रव्य का उपयोग कर नही सकते, किसी न किसी रूप मे भक्त ही उसका उपयोग करते है। तो फिर उचित रूप मे ही उसका उपयोग क्यो न किया जाय? यह एक दल की दलील है।

मगर दूसरा दल, जो पुराणपंथियो का है, इस विचार का

विरोधी है। वे जैन समाज की उन्नति के कार्यों मे देवद्रव्य का उपयोग करने के खिलाफ हैं। इस दल मे अधिकाश लोग वह जान पडते है जो देवद्रव्य से अपना व्यापार चला रहे है। देवद्रव्य ऐसे लोगो के पास जमा होता है। थोडे व्याज पर वे रुपये जमा रखते है और उस से व्यापार करके मुनाफा उठाते हैं। उनके पास से वह पूंजी निकल जाय तो कइयो का व्यापार ठप्प हो जाय। अतएव वे उसको कल्याणकारी अन्य सामाजिक कामो मे व्यय नही होने देते।

मगर समय वदल गया है और समय के साथ कतिपय समझदार गुरुओ के विचार भी वदल गये हैं। वे भगवान के भक्तो की सहायता के कार्य मे देवद्रव्य का उपयोग करना उचित समझते है। शिक्षण आदि कार्यो मे देवद्रव्य के उपयोग का हिमायती पक्ष बढता जा रहा है। कई जगह इस द्रव्य से शिक्षा सस्थाएँ चलने भी लगी हैं।

एक नौजवान ने समाचारपत्र मे एक लेख लिखा है। वह लिखता है—भगवन् ! तू दयालु नही है, तू त्यागी नही है, तू योगी नही है, यहाँ तक कि तू उदार भी नही है। अगर तू दयालु और त्यागी होता तो तेरे नाम पर जो धन है वह क्या तेरे भक्तो के काम न आता ? तू त्यागी कैसे कहा जा सकता है जवकि विजली की चमचमाहट मे रहता है, भव्य भवनो मे विराजमान है, मस्तक पर मुकुट शोभायमान हो रहा है। खासा महाराजा-सा मालूम होता है। इत्यादि वहुत कुछ लिखा है, उसने यह वडे दु ख मे लिखा है। समाज मे चलती हुई धाधली को देख कर उसका हृदय आहत हो उठा है। सचमुच आज की दुरवस्था देख कर किसके दिल मे दर्द न होगा ?

देवद्रव्य की चावी जिनके हाथ में रहती है उनमे से कई

स्वय ही उस द्रव्य को हडप जाते है। बेचारे गरीब और जरूरतमद उस द्रव्य को खाएँ तो नरक मे जाएँ और बडे-बडे खाएँ तो धर्म-धुरन्धर कहलाएँ। गरीबो को बडा दुर्दशा है। जो वायु छोटे-से दीपक को बुझा देती है वही जगल मे प्रज्वलित दावानल को और अधिक प्रज्वलित करती है। ग्रहण भी लगता है तो बेचारे पानी को लगता है। घी,दूध, पेडा और गाठिया को नही लगता। घी आदि मे दाभ (घास) रख दिया जाता है और उसकी पवित्रता की रक्षा कर ली जाती है। मगर दाभ क्या भीम की गदा है या एटम बम है, जिसके डर से ग्रहण दूर भाग जाएगा ? और क्या पानी के लिए दाभ नही मिलता है ? जो पानी स्वय शुद्ध माना जाता है और दूसरी अशुद्ध चीजो को भी शुद्ध करने वाला है, वह स्वय अशुद्ध कैसे हो जाता है ? सच बात तो यह है कि पानी मुफ्त मे मिल जाता है, उसके लिए पैसे खर्च नही करने पडते। अतएव उसकी कोई कद्र नही की जाती। घी-दूध के लिए पैसा खर्च करना पडता है। उन्हे ग्रहण लग जाए तो गजब हो जाय। इसी से उन्हे ग्रहण नही लगता।

बिरादरी का कोई गरीब आदमी थोडा-सा भी अपराध करता है तो उसे जातिच्युत कर दिया जाता है। किन्तु धनवान्, समर्थ या बड़ा समझा जाने वाला व्यक्ति बड़े से बडा कुकर्म कर डाले तो भी कोई उसकी ओर उँगली नही उठा सकता।

इस प्रकार जहाँ देखो वही धाधली चल रही है। न्याय-नीति और निष्पक्षता के दर्शन दुर्लभ हैं।

एक गांव की बात है। सब पचो ने मिल कर जातीय रीति-रिवाजो का निर्धारण कर लिया, जैसे बरात मे अमुक सख्या मे

अधिक व्यक्ति न जाएँ, टीके मे अमुक रकम से अधिक न ली जाय, आदि-आदि। इस प्रकार निश्चित हो जाने के पश्चात्, दैवयोग से सर्वप्रथम बिरादरी के मुखिया—पच के पुत्र की शादी का अवसर आया। लडकी वाले ने कुछ वस्तुएँ भेजी। उन्हे देख कर पच परमेश्वर का पारा गरम हो गया। लाने वाले से उन्होने कहा—ब्याई अर्थात् समधी जी ने इतनी कम सामग्री भेज कर हमारा अपमान किया है। हमारे खानदान का, हमारे नाम का और हमारे रुतबे का उन्होने कुछ भी खयाल नही किया। जाओ, चले जाओ और ये वस्तुएँ भी वापिस लेते जाओ। हाथी का भार हाथी ही उठा सकता है, गधा बेचारा क्या उठाएगा?

अरे माया के लोभी जीव! तू क्यो अभिमान से फूल रहा है? हाथी को गधा बनते देर नही लगती। ससार का नियम है कि—

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

रथ की चक्रनेमि जैसे ऊपर-नीचे घूमती रहती है, उसी प्रकार ससारी जीवो की दशा मे भी परिवर्त्तन होता रहता है। कभी दशा बिगडती है तो कभी सुधरती है और कभी सुधर कर फिर बिगड जाती है। धनवान् गरीब बन जाता है और गरीब धनवान् बन जाता है। कल जो महाराजाधिराज कहलाते थे, आज वे राज्यगद्दी से च्युत हो कर गलियो मे भटकते है। कल जो रानी थी आज वही अभिनेत्री बनने की तैयारी करती है।

जो दूसरे का अपमान करता है वह अपना ही अपमान करता है। कुएँ मे मुख डाल कर बोलने वाला वही शब्द सुनता है जो बोलता है। 'भाई' कहेगा तो 'भाई' सुनने को मिलेगा और 'मूर्ख'

शब्द का उच्चारण करेगा तो 'मूर्ख' शब्द ही सुनने को मिलेगा। जैसा तू दूसरो के प्रति व्यवहार करेगा, वैसा ही दूसरो से पाएगा। 'इस हाथ दे उस हाथ ले' की कहावत यहाँ चरितार्थ होती है। जैसा करोगे वैसा भरोगे!

ब्याई जी का नौकर बडा चलतापुर्जा था। उसने कहा—सेठ साहब! हमारे सेठ जी धन, जन, मन और कन मे किसी से कम नही हैं। उनके पास विशाल सम्पत्ति है, बडा परिवार है, वे उदारमना है और उनका घर सब तरह से भरपूर है। परन्तु आपकी बिरादरी ने जो नियम बनाये हैं, उनका पालन करने की दृष्टि से ही उन्होने अधिक सामग्री न भेज कर मर्यादित ही भेजी है। आप चाहेंगे तो इसकी कमी कभी भी पूरी कर दी जाएगी।

नौकर की सफाई सुन कर सेठ की बोलती बद हो गई। वह अभिमानी पच फिर भी हठपूर्वक बोला—हमने जो नियम बनाये हैं वे जाति के दूसरे लोगो के लिए है। मैं मुखिया हूँ, अतएव वे नियम मुझ पर लागू नही होते। अथवा—हमने देने की वस्तुओ का नियम बाँधा है न कि लेने की वस्तुओ का!

सेठ के आदमी ने व्यगपूर्वक कहा, धन्य है, आप जैसे मुखिया पच को।

सज्जनो! मुखिया को स्वय आदर्श बनना चाहिए। उसे अनुभव करना चाहिए कि समग्र जाति का उत्तरदायित्व मुझ पर है और जाति मे सब धनवान् नही होते, धनवान् विरले और मध्यम श्रेणी वाले तथा गरीब अधिक होते है। अतएव ऐसे ही नियम उपयुक्त हो सकते है जो देश काल के अनुरूप होने के साथ बहुजनसमाज

को असुविधाजनक न हो। फिर जो नियम बनें, श्रीमन्तो को उनका पालन करना चाहिए। उनके पालन करने से ही दूसरे लोग भी उनका पालन करते हैं। परन्तु आज के श्रीमन्त धन के अभिमान मे चूर होकर अपने गरीब जातिभाइयो की परवाह नही करते, अतएव जाति के लोग भी अब उनकी परवाह नही करते। परिणामस्वरूप जातिव्यवस्था आज मरणासन्न हो रही है। कितने ही लोग सोचने लगे है कि जाति हमे क्या लाभ पहुँचाती है? उसमे रहने से क्या बनता है और न रहने से क्या बिगडता है? इस प्रकार के प्रश्नो का जाति के मुखिया लोगो के पास आज क्या उत्तर है? लोग जाति के शासन को किस लाभ के लिए स्वीकार करे? जिस जाति मे अपने किसी असमर्थ भाई की सहायता करने की वृत्ति नही, वह कैसे अपना शासन मनवा सकती है?

जाति के मुखिया के लिये इन बातो पर आज गभीर विचार करना आवश्यक हो गया है। अगर मुखिया अनुकूल नियम बना कर स्वय उसका पालन करेगा तो दूसरो पर भी उसका प्रभाव पडेगा।

सर्व तीर्थंकरो ने उन्ही बातो का उपदेश दिया है जिन्हे उन्होने स्वय अपने जीवन मे उतारा है। अपनी साधना को पूर्णता पर पहुँचाने से पहले उन्हाने उपदेश नही दिया। यह कितना महान् आदर्श है!

मगर आज तो अधेरगर्दी चल रही है। सर्वत्र स्वच्छन्दता का साम्राज्य है। अपने लिए कुछ और दूसरो के लिए कुछ और ही नियम बनाये जाते है। गरीब देवद्रव्य खायें तो नरक मे जाएँ और बडे-बडे लोग खाएँ तो न जाएँ! मैं कहूगा कि जो द्रव्य किसी मानव की भलाई के काम नही आता, वह मुर्दाद्रव्य है।

मुसलमानो की मान्यता है कि कब्रो मे गाडे हुए सब मुर्दे कयामत के दिन उठ खडे होते हैं। तब उनके पुण्य-पाप का हिसाब होता है। आज की स्थिति कयामत से क्या कम है! कही बाढ है तो कही दुष्काल है। ऐसे समय भी अगर यह मुर्दा धन काम मे न आएगा तो फिर कब काम आएगा?

सच तो यह है कि देव की आड मे लोग अपनी पीढियाँ चला रहे हैं। जब अनाज का कट्रोल था तो लोग तग और परेशान हो गए थे। चारो ओर से कट्रोल हटा देने की आवाज उठाई जा रही थी। मगर जिन लोगो का कट्रोल बना रहने से स्वार्थ सिद्ध होता था, उन्होने अधिकारियो को उल्टी-सीधी भिडाई और बतलाया कि कट्रोल उठा दिया गया तो प्रजा भूखो मर जाएगी। वस्तुत उन स्वार्थियो को प्रजा की चिन्ता नही थी। उन्हे अपनी स्वार्थपूर्त्ति की ही फिक्र थी। जिस वस्तु पर कट्रोल होता है वह दबा दी जाती है और दुर्लभ बन जाती है। आज कट्रोल न होने से सब लोग अपेक्षाकृत अधिक सुविधा से अनाज पा लेते है। सारा कार्य ठीक चल रहा है। वस्तुत पदार्थों की कमी नही है, कमी है उदारता की।

आज का मनुष्य हीरा-पन्ना की कीमत करता है परन्तु वास्तविक कीमत दाने की है। ज्वार और बाजरे के दाने हीरा-पन्ना से बढ कर है। कुछ वर्ष पहले बगाल मे अकाल पडा तो कई लाख मनुष्य मर गए। हीरे-पन्नो के अभाव मे मनुष्य नही मरता, अनाज के अभाव मे मर जाता है। भूख लगने पर हीरे-पन्ने नही खाए जा सकते। उनसे प्राणो की रक्षा नही की जा सकती। उनकी रोटी नही बनाई जा सकती। वे हीरे किस काम के जिनसे गरीबो के पेट की ज्वाला न बुझे।

भोजन की कीमत भूखा जानता है, पानी की कीमत प्यासा और दवा की कीमत बीमार समझ सकता है। जिन लोगो के कोठे अनाज से भरे रहते है, उन्हे ही हीरे-पन्ने सूझते हैं। जब द्वादशवर्षीय अकाल पडा था तब जवाहरात देने वाले थे, परन्तु जवार देने वाले न मिले। कहिए कौन महँगा रहा ? धन या अनाज ?

देव के नाम पर धन पडा रहे और लोग भूखे मरे ! यह धन किस काम का ? मैं किसी पर आक्षेप करने की दृष्टि से नही कह रहा, एक सचाई को ही प्रकट कर रहा हूँ।

अगर भगवान् को प्रसन्न करना चाहते हो तो भगवान् के भक्तो की सुधि पहले लो। भक्तो को दु ख देकर किसी ने भगवान् को नही पाया है। लोग, भगवान् कैसे मिले, यह पूछा करते है परन्तु भक्तो की बात कोई नही पूछता। साढे तीन हाथ का पुरुष, अनाथ विधवा और यतीम सामने खडा है, वह तो दिखाई नही देता और निराकार भगवान् के दर्शन करने चले हैं ! भगवान् मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर गुरुद्वारा या स्थानक मे नही है, वह तो मानव के हृदय मे निवास करता है। भगवान् का दर्शन करना है तो गरीबो की ओर देखो। उनके दु ख को देखो। उनकी सेवा करो। देखने मात्र मे दवा रोग नही मिटा सकती, जब उसका सेवन किया जाता है तब रोग मिटता है। सब से बडा धर्म दया है। आज लाखो मनुष्य ऐसे है जिन्हे पर्याप्त अन्न और वस्त्र नही प्राप्त हैं। वे न भरपेट भोजन पाते है और न अपनी लज्जा ढँक सकते है। ऐसी अवस्था मे फिजूल पडे हुए धन की तरफ लोगो का ध्यान जाना स्वाभाविक है।

मेवाड के लोगो मे धर्म के प्रति अनन्य श्रद्धाभाव विद्यमान है, परन्तु दारिद्र्यदेवता भी उनकी पूरी परीक्षा ले रहा है। मेवाडी

किसी के सामने हाथ नही पसारते, वह महाराणा प्रताप की भूमि के हैं। वहाँ की प्रजा बड़ी स्वाभिमानी है।

पढ के देखो दोस्तो उस राजपूती शान को।
लडते-लडते मिटते गये लेकिन न छोडा आन को।

मेवाड के निवासियो मे आत्मगौरव का भाव है, स्वाभिमान है। वहाँ के स्त्रीजन और पुरुष धर्म पर मर मिटना जानते हैं और धर्म की कीमत आँकना जानते है। मेवाड की कोमल राजकुमारियो ने हँसते-हँसते चिता पर अपनी आहुति दे दी, परन्तु मुसलमानो के अधीन होकर अपना धर्म भ्रष्ट न होने दिया। आज भी चित्तौड का किला अपना मस्तक ऊँचा उठाये, देश की स्वाधीनता के अर्थ मर मिटने की प्रेरणा करता हुआ और देशभक्तो की श्रद्धा को जगाता हुआ गौरव के साथ खडा है।

जिन लोगो मे स्वाभिमान नही है, वे ढेले से भी गये-वीते हैं। सच्चा मनुष्य वही है जिसमे अपने कुल का, धर्म का, राष्ट्र का स्वाभिमान हो, गौरव हो। जो अपने व्यवहार से इनका गौरव वढाता है, उसकी कीर्त्ति चिर-अमर हो जाती है।

तस्वीर के दोनो पहलू देखिए। ससार मे वहुत-से दुखी है। जिनके पास शक्ति है उन्हे दुखियो की सेवा करनी चाहिए। परन्तु पास मे पैसा होते हुए भी या कार्य करके उपार्जन करने की शक्ति रखते हुए भी दूसरो के आगे हाथ पसारना बुरी बात है। यह गौरव-हीनता का द्योतक है। स्वाभिमानी मर जाना पसन्द करता है परन्तु दीनतापूर्वक याचना करना अथवा हाथ पसारना पसन्द नही करता।

मुझे मालूम है कि कितनीक मेवाडी बहिनो के लँहगो मे बीस-बीस थेगलियाँ लगी हैं। परन्तु धर्म के प्रति उनमे अनन्य श्रद्धा-भाव है। वे भक्तिभाव से गुरुओ की सेवा करती हैं। जीवननिर्वाह के लिए कठिन परिश्रम करती रहती हैं। मैंने अपनी आँखो से ओसवाल बहिनो को मिट्टी ढोते देखा है।

कार्य करने मे क्या शर्म है ? शर्म तो उन्हे आनी चाहिए जो मुफ्त का खाते है। जब तक मजदूर न बना जाय तब तक ससार का काम नही चलता।

तो मेवाड मे उच्च-कोटि का श्रद्धाभाव है। परन्तु यहाँ क्या है ? यहाँ तो बहुत-से लोग महलो मे मस्त है। कई लोग ऐसे भी हैं जिनके मुझे अभी तक दर्शन ही नही हुए। उन्होने भी मेरे दर्शन नही किये। मैं तो उनके घर तक भी जाने को तैयार हूँ यदि कोई ले जाने वाला मिल जाय। किसी भी प्रकार से उन मे धर्म के प्रति श्रद्धाभाव जागृत हो जाय और वे आत्मा के कल्याण की ओर उन्मुख हो तो मैं अपना यहाँ आना सफल समझूँ, नहीं तो मुझे किसी से क्या लेना-देना है ?

मेवाडी लोग हाथ पसारना नही जानते। हाथ कौन पसारता है ? जो अपग हो। अन्धे, लूले, लँगडे, अथवा अन्य किसी कारण से जो आजीविका-उपार्जन करने मे असमर्थ बन गये हो, वे सहायता लेने के अधिकारी या पात्र गिने जाते है। शक्ति होते हुए भी जो लोग हाथ पसारते हैं, वे देश को अधोगति की ओर ले जाते है। जिस देश के लोग हरामखोर बन जाएँ, खाने के समय जा धमके, सिनेमा के समय सिनेमा देखे और शेष समय मे इधर-उधर भटकते फिरे, वे

उस देश के गौरव को नही बढा सकते। वे देश के सामर्थ्य को क्षीण करते है। देश के भार है। देश, समाज और जाति के गद्दार हैं।

कितने ही हरामखोर और कामचोर लोग दूसरो की दया और परोपकार की भावना का तथा उदारता का अनुचित उपयोग करके मुफ्त मे माल उडाते हैं। जिन्हे कमाने के लिए शरीर मिला है, हाथ-पैर मिले हैं, इन्द्रियाँ मिली है, सब साधन मिले है और जो परमार्थसाधना के कार्य मे भी नही लगे हैं, वे दूसरो पर बोझ क्यो बने ? वे अपने हाथो-पैरो से काम क्यो नही लेते ?

आज भारत मे छप्पन लाख साधु कहे जाते है। भारत के सभी सम्प्रदायो के साधुओ की यह सख्या है। यदि एक व्यक्ति का भोजनखर्च चार आना प्रतिदिन भी गिना जाय, जो अल्पतम है, तो भी चौदह लाख प्रतिदिन का खर्च आता है। जो साधु भग, तमाखू, सुलफा, गाजा आदि का सेवन करते हैं, उनका काम चार आने मे नही चल सकता। यो तो आज की महँगाई को देखते साधारण भोजन मे भी एक बार मे आठ आने खर्च हो जाते हैं, परन्तु मैं ने तो यथासभव कम से कम खर्च ही गिना है। इस प्रकार करीब बीस लाख रुपया प्रतिदिन इस साधुओ की बडी सेना पर व्यर्थ ही व्यय हो रहा है। जीवन मे साधना नही, सयम नही, कोई आदर्श नही, समाज के नैतिक या धार्मिक धरातल को ऊँचा उठाने की प्रेरणा भी इनसे मिलती नही। ऐसी स्थिति मे यह सब खर्च व्यर्थ जाता है। यही लोग अगर उच्च कोटि का जीवन बिताएँ, उच्च शिक्षा प्राप्त करे और देश मे धर्म एव सदाचार का प्रचार करे तो कितना काम हो सकता है।

सांधने वाला चार अगुल सांधता है और फाडने वाला दो हाथ

फाड डालता है। लफगे मुफ्त का खा जाते हैं,परन्तु देश, समाज और जाति के काम नही आते। जो लोग पटरी से नीचे उतर गये है, मैं चाहता हूँ कि वे पटरी पर आ जाएँ। मेरा मतलव यह नही है कि किसो की सहायता न को जाए। जैनशास्त्र के अनुसार करुणादान के लिए सव पात्र माने गये हैं, मगर प्रत्येक कार्य के साथ विवेक जुडा रहना चाहिए। जैसे विवेकयुक्त करुणा न करना उचित नही है, उसी प्रकार विवेकहीन करुणा भी अनुचित हो जाती है। आपको अपने उन स्वधर्मी भाइयो की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए जो आजीविका का साधन ढूंढते हैं, पर पाते नही हैं। ऐसे लोगो की समाज मे कमी नही है। कमी सहायता करने वालो की है। अगर आप सहायता करेंगे तो वात्सल्य अग का पालन करके अपने सम्यक्त्व को अधिक उज्ज्वल वनाएँगे।

एक वार वादशाह अकवर ने वीरवल से पूछा—वीरवल! यदि तुम्हारी और मेरी दाढी मे एक साथ आग लग जाय तो पहले किसकी दाढी की आग वुझाओगे?

वीरवल—हुजूर, पहले अपनी दाढी वुझाऊंगा, फिर आपकी।

वादशाह—तव तक तो मेरी दाढी जल कर खाक हो जाएगी। फिर क्या खाक वुझाओगे?

वीरवल—हुजूर, मगर प्रकृति के नियम को कौन टाल सकता है? प्रकृति की प्रेरणा से पहले मेरे हाथ मेरी दाढी की ओर ही वढेंगे।

अभेदभाव से विश्व के समस्त प्राणियो के साथ मैत्रीभाव रखना चाहिए। सव के प्रति अनुकम्पा की भावना होनी चाहिए। सव के उपकार का विचार रखना चाहिए। परन्तु सव की दाढी न

बुझा सको तो कम से कम अपने जातिभाई और स्वधर्मी भाई की तो बुझाओ । यह जो सघ आपके निकट वैठा है, एक सघ रूपी दाढी के वाल हैं ।

सर्वप्रथम अन्त करण मे दयाभाव आना आवश्यक है, सामयिक और पौषध आदि क्रियाएँ पीछे हैं । अगर छोकरे सयाने हो तो पिता को कुछ न कहना पडे । थोडे सयाने हो तो सकेत से समझ जाएँ । अगर आप स्वय अपने कर्त्तव्य को समझ जाएँ तो मुझे कहने की कोई आवश्यकता ही न रहे । जव देखता हूँ कि आपके मन मे अपने कर्त्तव्य से प्रति कोई जागृति नही है तो मुझे कहने के लिए विवश होना पडता है ।

आप सोचते होगे कि आज स्वामी जी देश की भूख की वात करते है । परन्तु मे क्या करूँ, तीर्थंकरो ने भी यह वात की है । आखिर धर्म का आचरण कौन करेगा ? जिन्दा या मुर्दा ? जीवन की रक्षा का खयाल पहले किया जाता है, क्योंकि जीवन रहेगा तो धर्म भी किया जा सकेगा । जीवन ही जव खतरे मे पडा हो तो धर्म करने की किसे सूझती है ?

मेवाड की जनता को देखो, उसमे कितना स्वाभिमान और धर्मप्रेम है ! वम्वई से चल कर मैं यहाँ आया हू । उधर मार्ग के ग्रामो मे जो मेवाडी रहते हैं, वे दस-दस मील चल कर दर्शनार्थ आए । और यहाँ मैं आ गया हू, तव भी कइयो ने दर्शन नही किए । इसका कारण शायद यही है कि कोठी मे अनाज भरा है । सुख मे न धर्म याद आता है, न परमात्मा—

दु ख मे सुमिरन सव करे, सुख मे करे न कोय ।
जो सुख मे सुमिरन करे, दु ख काहे को होय ? ॥

कार्तिक मास मे सनातनी लोग नहाने का माहात्म्य मानते हैं। बूढी और जवान महिलाएं गाती हुई स्नान करने जाती है। ऐसी बूढी स्त्रियाँ भी जाती हैं जो मागलिक सुनने भी साधु मुनिराजो के पास नही आ सकती। वे गिरती-पडती, लडखडाती हुई भी स्नान करने गये विना नही रहती। राम राम करती हुई नहाती है। सर्दी लगने के कारण उनके मुख मे राम नाम जल्दी निकल आता है। फिर घर लौट कर रुई के वस्त्र ओढ कर सो जाती हैं। ठड मिट जाने से नीद आ जाती है, मानो राम जी भी सो जाते हैं। इस प्रकार जो बुढिया ठड लगने पर राम राम करती थी, वही गर्म गद्दे मे रामजी को भूल जाती है।

दुःख के समय साधारण मानव अपने गौरव को भी भूल जाता है। उसमे प्राय दैन्य आ जाता है। मगर मेवाडी लोग महाराणा प्रताप की दी हुई गौरव की विरासत को नही भूलते।

हाँ, तो परिश्रम न करना और खाने के समय तैयार रहना कहाँ का न्याय है? मैं कमाई करने का पाठ तुम लोगो को नही पढा सकता। इस विषय मे तो स्वय बहुत होशियार हो। मैं जो कहना चाहता हूँ वह यही कि जिन स्वधर्मी भाइयो के पास धधा न हो, उन्हे धधे मे लगाना धर्मप्रेमी श्रावक अपना कर्त्तव्य मानता है।

हमारे पास लौकिक धधा नही है। जो धधा है, उसे कोई स्वीकार करने को तैयार नही है। कितनी बाइयाँ तो हमारा धधा स्वीकार करती हैं अर्थात् सयम अगीकार करके दीक्षा पालती है, परन्तु मर्द तो प्राय दूर-दूर ही रहते है। मगर इस पूंजी मे हमारा धधा कब तक चलेगा?

तो ये लोग हमारा धंधा नही स्वीकार करते परन्तु तुम्हारा

घघा तो स्वीकार कर सकते हैं। अतएव अपने भाइयो का ध्यान रक्खो। सहायता देने वालो को और सहायता लेने वालो को, दोनो को ही अपना-अपना कर्त्तव्य समझना चाहिए और पालन करना चाहिए।

भगवान् के नाम का विषय चला था। भगवान् का नाम लेने की सार्थकता तभी होगी जब पहले दुखियो का नाम लोगे कि अमुक मनुष्य दु ख मे है, अमुक कष्ट मे है। इसके साथ ही उनके दु ख को दूर करने का प्रयत्न भी करना चाहिए और उन्हे धर्म मे लगाना चाहिए।

धर्म के चार साधन हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य आदि चारो शुद्ध भी होते हैं और अशुद्ध भी हो सकते हैं। जैसा कारण होगा वैसा ही कार्य भी होगा। शुद्ध साधनो से शुद्ध साध्य की प्राप्ति होती है। चारो कारणो के एकीकरण से आत्मा का कल्याण होता है। शुद्ध हृदय से त्रिकरण त्रियोग पूर्वक भगवान् का भजन करने से आत्मा अपने भूले हुए स्वरूप को जान लेती है।

सज्जनो! अन्त मे मुझे यही कहना है कि भगवान् का भजन करने के साथ आपके ऊपर भगवान् के शासन की रक्षा और प्रभावना का भी उत्तरदायित्व है। यह उत्तरदायित्व चतुर्विध सघ का है, परन्तु गुरु के नाते साधु और साध्वी का विशेष फर्ज है। जो माता-पिता अपने बेटा-बेटी का ध्यान नही रखते कि वे कहाँ जाते है, किसकी सगति करते है, वे अपने कर्त्तव्य का पालन नही करते। यही बात सघ के विषय मे भी समझनी चाहिए।

जैसे आप दुकानदारी का ध्यान रखते हैं, उसी प्रकार धर्म

का भी खयाल रक्खो। आपका धर्म की ओर ध्यान होगा तो दूसरो को हमारे समाज को लूटने का साहस न होगा।

मै चाहता हूँ कि व्याख्यान समाप्त होने के वाद कुछ लोग मुझसे मिलें। मुझे सघ की उन्नति के सम्वन्ध मे कुछ सूचनाएँ करनी हैं।

सघ की उन्नति मे ही व्यक्ति की उन्नति है, ऐसा मान कर आप उत्साहपूर्वक सघसेवा करेंगे तो आपका कल्याण होगा और वीरसघ का अभ्युदय होगा।

राजकोट
२१—८—५४

शुद्धि

अरिहन्त अरिहन्त० ।

धर्मप्रेमी बन्धुओ और बहिनो !

व्याख्यान का प्रधान चालू विषय अध्यात्मवाद है। उसके मुख्य चार मुद्दे हैं—(१) आत्मवाद (२) लोकवाद (३) क्रियावाद और (४) कर्मवाद। इन चार सिद्धान्तो मे सभी का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समावेश हो जाता है। परन्तु इन चारो मे भी आत्मवाद मुख्य है, क्योकि सब का केन्द्रभूत आत्मा ही है। आत्मा ही धर्म-अधर्म, क्रिया, कर्म आदि को पहचान सकता है, अतएव शेष तीन वादो की कडियाँ आत्मा के साथ जुडी हुई है।

'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए बतलाया गया है कि 'लोक्यते इति लोक'। जो वस्तु अवलोकन मे आ सके उसे लोक कहते हैं। अवलोकन दोनो प्रकार से होता है—इन्द्रियज्ञान से भी और अतीन्द्रियज्ञान से भी। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु इन्द्रियज्ञान या अतीन्द्रियज्ञान से जानी जा सके उसे लोक कहते हैं।

चक्षु इन्द्रिय से अवलोकन की जाने वाली वस्तु सिर्फ पुद्गल है। जो आँख से दिखाई देता है वह सब पुद्गल अर्थात् प्रकृति है। पुद्गल के अतिरिक्त शेष पाँच द्रव्य अरूपी हैं, अतएव आँख उन्हे देख नही सकती। मगर ऐसा नियम नही है कि जो पुदगल है वह अवश्य आँख से दिखलाई दे। पुदगल जब स्थूल-बादर रूप धारण

करता है तभी वह चक्षुग्राह्य होता है, अन्यथा नही। सूक्ष्म पुद्गल रूपी होने पर भी चक्षुइन्द्रिय के गोचर नही होते।

तो छ द्रव्यो मे से सिर्फ पुद्गल ही चक्षुग्राह्य होता है और पुद्गल मे से भी सिर्फ वादर पुद्गल ही, मगर वादर पुद्गल भी सभी इन्द्रियग्राह्य नही होते। बहुत-से पुद्गल वादर होने पर भी इन्द्रियग्राह्य नही है, जो वहुत स्थूल रूप मे होते हैं उन्ही को हमारी आँख देख सकती है।

छ द्रव्य लेश्याओ के, आठ कर्मों के, मनोवर्गणा, भाषा-वर्गणा तथा कार्मणवर्गणा के पुद्गल चौस्पर्शी हैं। उनमे शीत, उष्ण, लूखा और चीकनापन ही पाया जाता हे। यह पुद्गल दीखते नही हैं। आठ पृथिवियो के, घनवात तथा घनोदधिवात के, द्वीप-समुद्रो के, २६ देवलोको के, चार शरीरो के पुद्गल वादरपरिणाम वाले हैं।

आँखो की परिणति स्थूल है। अतएव उनसे सूक्ष्म पुद्गलो का ग्रहण नही किया जा सकता। फिर भी यह नही समझना चाहिए कि जो आँखो से दिखाई नही देता, उसका अस्तित्व नही है। इस विशाल विश्व का अधिकाश भाग चक्षु से अगम्य है। चक्षुगम्य तो वहुत थोडा-सा भाग ही है।

तो जो ज्ञान के द्वारा देखा जाय—जाना जाय, वह लोक है। यद्यपि अलोक भी शुद्ध आकाश के रूप मे केवल-ज्ञान द्वारा जाना जाता है, अतएव उसे भी लोक की सज्ञा प्राप्त होनी चाहिए, तथापि अलोक मे आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य नही है। वह खाली आकाश ही आकाश है। उसकी यह विशेषता प्रकट करने के लिए ही उसे अलोक सज्ञा प्रदान की गई है।

लोक चौदह राजू परिमित आकाशखड है। इसमे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गल, जीव आदि सब द्रव्य विद्यमान रहते हैं। इसके चारो ओर, ऊपर तथा नीचे अनन्त असीम अलोक आकाश है जो अनादि काल से सूना पडा है और अनन्त काल तक सूना पडा रहेगा। उसमे न कभी किसी अन्य द्रव्य का प्रवेश हुआ है और न हो ही सकता है। धर्मास्तिकाय आदि का वहाँ अभाव होना ही इसका एकमात्र कारण है।

लोक के इस स्वरूप को जानने वाला और प्रकट करने वाला आत्मा ही है। आत्मा न होता तो कौन लोक के स्वरूप को जानता और कौन उसे प्रकट करता ? जानने और प्रकट करने की शक्ति आत्मा के अतिरिक्त किसी भी अन्य द्रव्य मे नही है। आत्मा मे अनन्त ज्ञानशक्ति और अनन्त दर्शनशक्ति है। अनन्त वीर्यशक्ति भी विद्यमान हैं। आत्मा की ये शक्तियाँ स्वभाव से ही आत्मा मे रहती हैं, कही बाहर से नही आती। जैसे दूध मे घी और तिलो मे तेल व्याप्त है, उसी प्रकार आत्मा मे दर्शन-ज्ञान चेतना व्याप्त है।

कहा जा सकता है कि अगर आत्मा मे अनन्त ज्ञान दर्शन-शक्ति विद्यमान है तो उसकी प्रतीति क्यो नही होती ? इस प्रश्न का उत्तर प्रकारान्तर से पहले भी दिया गया है, फिर भी सक्षेप मे कहता हूँ।

जैसे चन्द्रमा का प्रकाश मेघो से आच्छादित हो जाता है उसी प्रकार आत्मा की अनन्त ज्ञान-दर्शन-शक्ति कर्म से आच्छादित है—आवृत है। सघन से सघन घन भी जैसे चन्द्रमा के प्रकाश को समूल नष्ट नही कर सकते उसी प्रकार प्रबल से प्रबल आवरण भी आत्मा की ज्योति को सर्वथा नष्ट नही कर सकता। और जैसे तेज

आंधी आने पर वादल विखर जाते हैं और चन्द्रमा का प्रकाश अपने मूल स्वरूप से चमकने लगता है, उसी प्रकार ध्यान, भावना आदि से आवरण नष्ट हो जाता है और आत्मा की ज्योति स्वाभाविक रूप मे प्रकाशित हो जाती है।

इस प्रकार आत्मा चन्द्रमा के समान है, ज्ञानावरणीय आदि कर्म मेघ के समान है और आत्मा की चेतना चन्द्रमा की चाँदनी के समान है। दोनो मे अन्तर है तो यही कि चन्द्र-प्रकाश भौतिक अर्थात् द्रव्यप्रकाश है और आत्मिक ज्योति भाव-प्रकाश है। चन्द्रमा केवल रूपी पदार्थों को ही प्रकाशित कर सकता है, परन्तु आत्मा के प्रकाश मे रूपी-अरूपी सभी पदार्थ प्रकाशित होते हैं। चन्द्रमा का प्रकाश द्रव्य-अन्धकार को ही नष्ट कर सकता है, परन्तु आत्मिक प्रकाश भाव-अन्धकार को नष्ट करता है।

अभिप्राय यह है कि आत्मा मे अनन्त ज्ञानादि का अक्षय भडार भरा है। उसे प्राप्त करने के लिए किसी से भीख मांगने की आवश्यकता नही है। आत्मा मे सभी कुछ है। हमे उस भडार पर विश्वास होना चाहिए और उसके वद द्वार को खोलने का पुरुपार्थ करना चाहिए। मगर जव तक जीव को अपने स्वरूप का भान नही होता तव तक वह दूसरो के सामने हाथ पसारता है। यह अज्ञान का ही परिणाम है। वास्तव मे हमे गुणो को ढँकने वाली शक्ति को ही दूर करने की आवश्यकता है।

वस्त्र की शुद्धता—सफेदी, पानी या सावुन मे नही है, वह तो वस्त्र मे ही है। पानी, सावुन साधन मात्र है। थपकी भी साधन मात्र है। ये साधन सफेदी को प्रकट मात्र करते है, उत्पन्न नही करते और न कर सकते हैं।

आज के लोग वस्त्र साफ करना जानते हैं। उसके लिए नये-नये प्रकार के साबुन, क्षार आदि बनाते हैं। टिनोपोल आदि कितनी ही वस्तुओ का निर्माण किया है जो वस्त्रो मे सफेदी ला देती हैं। परन्तु वे वस्त्रो की स्वच्छता मे ही सन्तोष कर बैठे हैं। आत्मा की स्वच्छता के लिए कोई प्रयास नही करते। आत्मा की शुद्धि किस प्रकार होती है, यह जानने की रुचि भी आज विरलो को ही होती है।

परवस्तु के सम्वन्ध मे आज जितनी शोध-खोज हो रही है, कदाचित् आत्मा के विषय मे भी उतनी होती तो ससार स्वर्ग के समान वन जाता। आत्मशोधन के लिए जिन उच्च और पावन वृत्तियो की आवश्यकता होती है, वे अगर व्यापक रूप मे मनुष्यो मे हो तो जगत् मे परम शान्ति का विस्तार हो जाय।

लोग समझते है कि वाह्यशुद्धि से ही हमारा काम चल जाएगा पर यह उनका निरा भ्रम है। वाह्यशुद्धि से आत्मा की शुद्धि नही होती। उसके लिए तो दूसरे ही प्रकार के प्रयास करने की आवश्यकता है।

शुद्धि दो प्रकार की होती है—द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धि। द्रव्यशुद्धि वाहर की सफाई है। जिस मकान मे रहना है वह शुद्ध होना चाहिए। मनुष्य स्वभाव से ही सफाई पसद होता है।

प्रथम क्षेत्रशुद्धि होनी चाहिए। जहाँ गदगी होती है, अशुचि होती है, वहाँ आत्मचिन्तन और स्वाध्याय नही हो सकता। शास्त्र मे असज्झाय के ३४ कारण वतलाये हैं। शास्त्रीय विधान के अनुसार क्षेत्र शुद्ध न हो तो शास्त्र नही वांचा जा सकता। सौ-सौ हाथ की दूरी पर अगर पचेन्द्रिय का कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय करना

सेवन करने की आवश्यकता नही है। अल्प व्यय से ही सादा जीवन सुखपूर्वक यापन किया जा सकता है। परन्तु तडकभडक, वनाव-शृगार और चमकदमक के चक्कर मे जव मनुष्य पड जाता है तो ईमानदारी के साथ कमाई करके अपनी आवश्यकताओ को पूरा नही कर पाता और तव उसे वेईमानी की शरण लेनी पडती है।

आज सर्वत्र अप्रामाणिकता का वाजार गर्म है। क्या सरकारी क्षेत्रो मे और क्या निजी व्यापारिक क्षेत्र मे, प्रामाणिकता प्राय दृष्टिगोचर नही होती। चारो ओर शोर मचा है कि भ्रष्टाचार फैल रहा है! सरकार ने भ्रष्टाचार विरोधी एक पृथक् विभाग खोल दिया है, मगर उसके भ्रष्टाचार का निरोध कौन करे? फिर भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज लगाने वाले लोग समय आने पर स्वय भ्रष्टाचार मे प्रवृत्त हो जाते हैं। वे अपने स्वार्थ की पूर्त्ति के लिए सरकारी कर्मचारियो को रिश्वत देते हैं और काम निकालते हैं।

इस सर्वव्यापी भ्रष्टाचार से लोग परेशान है, दुखी हैं। सहज ही कोई किसी पर विश्वास नही करता। देश की नैतिकता का स्तर दिनोदिन गिरता जा रहा है और धर्मप्रधान देश अधर्मप्रधान बनता जा रहा है। इस शोचनीय परिस्थिति के कारणो मे अगर गहरा उतरा जाय तो प्रतीत होगा कि आवश्यकताओ की अनापसनाप वृद्धि होना इसका प्रधान कारण है। आवश्यकताओ को अगर सीमित किया जाय और जीवन मे तथा विवाह आदि रीतिरिवाजो मे सादगी को स्थान दिया जाय तो देश की नैतिक गिरावट को बहुत अशो मे रोका जा सकता है। इस सम्वन्ध मे व्यवस्थित और व्यापक आन्दोलन चलाने की आवश्यकता है। पत्तो पर पानी छिडकने से वृक्ष हराभरा नही होता, उसकी जडो मे पानी सीचना पडता है। इसी प्रकार समाज की बुराई के मूल को पहचान कर

उसे दूर करने से ही बुराई दूर हो सकती है। परन्तु लोग जड को पहचानते नही और ऊपरी उपचार करते हैं। इसी से वह उपचार सफल नही हो पाता है।

ज्यो-ज्यो आवश्यकताएँ बढेगी त्यो-त्यो तृष्णा, लोभ, आरभ और परिग्रह भी बढेगा और पाप भी बढेगा। इससे कर्मों का जो बध होगा उसे भोगना कठिन हो जाएगा। अतएव आरम्भ और हिंसा को कम करो और इसके लिए जीवन मे सादगी लाओ।

महारभ के पाप से बचने के लिए तीन प्रकार की आवश्यकताओ को सीमित करना चाहिए—भोजन सम्बन्धी, वस्त्र सम्बन्धी और मकान सम्बन्धी। यह ठीक है कि गर्मी-सर्दी से बचाव करने के लिए और साथ ही अपनी वस्तुओ की सुरक्षा के लिए गृहस्थ को घर की आवश्यकता होती है, मगर यह काम तो साधारण मकान से भी हो सकता है। फिर अनावश्यक बडे-बडे और अनेक मकान खडे करके सिर पर कर्मों का कर्ज़ क्यो बढा रहे हो ? कर्ज चढाना अच्छा नही होता। कहा भी है—

चलना भला न कोस का, बेटी भली न एक।
देना भला न बाप का, साहिब राखे टेक॥

पुत्री पर भी पुत्र के समान ही दृष्टि रखनी चाहिए। पुत्रियाँ न हो तो समाज की गाडी चले कैसे ? परन्तु समाज मे आज ऐसे बेढंगे रीति-रिवाज चल रहे हैं, जिससे लोगो को लडकी भार रूप प्रतीत होती है। यह भी एक बडी हिंसा है जिसे शीघ्र दूर करने की आवश्यकता है।

कर्ज़दारी से भी बचना चाहिए। बुद्धिमान् मनुष्य इस बात का ध्यान रखता है कि उसे किसी का ऋणी न होना पडे। कदाचित्

अनिवार्य प्रसग उपस्थित होने पर कर्ज लेना ही पडता है तो वह उसे शीघ्र से शीघ्र चुका देता है।

हाँ, तो शास्त्रकार कहते हैं कि धर्म विवेक-विचार मे है। पुराने समय मे श्रावक सब्जी लाते थे तो बडी यतना से, वस्त्र से ढँक कर लाते थे ताकि उसे देख कर दूसरो को प्रेरणा या उत्तेजना न मिले। आज इतना गहरा विचार किसको है ? लोग दिखा-दिखा कर और सराहना करते हुए लाते हैं।

बात यो छोटी-सी मालूम होती है, परन्तु इसके अन्तस्तल मे बहुत अर्थ छिपा है। जो श्रावक ऐसी छोटी बातो मे भी विवेक को विस्मरण न करेगा, वह बडी बातो मे भी विवेक रक्खेगा। असली बात यह है कि श्रावक के समग्र जीवन-व्यापार विवेकपूर्ण होने चाहिएँ। ऐसा तभी सभव है जब प्रत्येक छोटी-मोटी बात विवेक के प्रकाश मे ही की जाय।

जिसमे विवेक होगा वह शुद्धि और चमकदमक या फैशन-परस्ती के अन्तर को अवश्य समझेगा। वह शुद्धि का आश्रय लेगा, मगर फैशनपरस्ती को प्रश्रय न देगा। चेहरे पर पाउडर पोत कर असली रूप को छिपाना और कृत्रिम रूप धारण करना विवेकहीनता की निशानी है। कइयो के चेहरे तो पाउडर पोतने से ऐसे लगते हैं, जैसे भूत-भूतनी के चेहरे हो। पाउडर पोतने वालो के प्रति समझदार लोग मन मे घृणा रखते है।

स्वाभाविकता को छिपाना प्रकृति को धोखा देना है। प्रकृति से जिसे जो रूप मिल गया है, वह बदलता नही और उसे बदलने की चेष्टा करने से क्या लाभ है ? मनुष्य का मूल्य रूप से नही, सद्गुणो

से है, सदाचार से है, धर्मनिष्ठा से है। जो इस सत्य को समझ लेगा, वह रूप-परिवर्तन की बालसुलभ चेष्टा नही करेगा। पाउडर लगाने से कोई नया रूप उत्पन्न नही हो जाता। पर आज तो यह रोग बहुत फैल गया है। रूपवान् और अरूपवान् दोनो साज सजाते हैं और अपने रूप में वृद्धि करना चाहते हैं। असली से तृप्ति नही तो नकली से क्या होगी ?

वस्तुत यह सब विवेक के अभाव का परिचायक है। साबुन, पाउडर आदि के उपयोग मे कितनी हिंसा होती है ? करोडो जीवो की हिसा से ये चीजें बनती है। उपासकदशाग शास्त्र मे वर्णित दश श्रावको के जीवन पर ज़रा दृष्टिपात करो तो पता चलेगा कि उनका जीवन कितना सादगीमय था। उन्होने आकाश का पानी पीने को रक्खा। सादा क्षौमवस्त्र रक्खा। वे श्रावक कोई साधारण स्थिति के नही थे। उनके पास करोड़ो स्वर्ण-मोहरें थी, पांच-पांच सौ हलो से खेती होती थी, साठ हजार या अस्सी हजार जितनी एक-एक के पास गायें थी। उनकी ऋद्धि की तुलना मे तुम्हारी ऋद्धि किस गिनती मे है ? क्या तुम उनसे भी आगे बढ गए हो ? जब कोई याचक या दीन-दुखी सामने आ जाता है और उसकी सहायता करने का प्रसग उपस्थित होता है तो बुखार-सा चढ जाता है, परन्तु विलास मे खर्च करते तनिक भी सकोच नही होता !

अरे क्या रक्खा है इस पाउडर मे ! एक बार पसीना आया और धुल गया। आखिर कब तक इस चमडी की पूजा करते रहोगे ? कितने दिनो तक इसे सजाओगे ? अनावश्यक वस्तुओ को भोगना पाप की वृद्धि करना है। ठीक है कि भोजन, वस्त्र और मकान के बिना काम नही चलता। यह जीवनोपयोगी वस्तुएँ हैं। मगर जिन

वस्तुओ का जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नही है, जिनके बिना जीवन बखूबी चल सकता है, उनका उपयोग करके क्यो पाप बोझा बढाते हो ? सादगी सभी दृष्टियो से लाभदायक है। उसी मे जीवनी शक्ति निहित है। दूर क्यो जाते हो, गाँधी जी का ही विचार करो। कितना सादा और मर्यादित था उनका जीवन ? उन्होने बैरिस्टर हो कर भी लगोटी लगाई थी। परन्तु इस सादगी से उनका मान बढा ही, घटा नही। उनकी अन्तरात्मा मे शृगार था –वह त्याग, परोपकार, सेवा आदि सद्गुणो से विभूषित थे। गरीबो के प्रति उन्हे गहरी सहानुभूति थी। उनकी समग्र शक्तियाँ परोपकार के लिए थी। उनके जीवन मे न तो कोई बनावट थी, न दिखावट थी, न चमकदमक थी। उनकी मृत्यु पर सातो विलायतो के झडे झुक गये थे। आज वह हमारे बीच मे नही रहे, मगर क्या उनका यश भी नही रहा ? भारत को स्वाधीन बनाने वाले उस महात्मा की कीर्ति युग-युग तक जीवित रहेगी। भारतवासी उसे भूल नही सकते। वह आज भी भारत के बच्चे-बच्चे के हृदय मे बसा हुआ है।

अगर गाँधी-जी अन्य-साधारण बैरिस्टरो की भाँति ही रहे होते, चमकदमक के शिकार हो गये होते और भोग विलास के कीचड मे फसे रहते तो क्या दुनिया की जो श्रद्धा उनके प्रति है, वह उत्पन्न हुई होती ? कदापि नही। आज उनका जो भी महत्त्व है, वह उनके त्याग और सादे जीवन का ही फल है। इसी कारण प्राय आज सारी दुनिया उनको जानती है, मानती है और उनकी जय बोलती है।

एक बार हम देहली से कुतुब जा रहे थे। एक अनजान आदमी ने हमे महात्मा गाँधी समझ लिया। वह भागा-भागा आया

और अत्यन्त नम्रता से कहने लगा—बहुत दिनो से मेरी अभिलाषा थी कि गान्धी जी के दर्शन करूँ। आज आपके दर्शन करके कृतार्थ हुआ।

यह सुन कर मैंने उसे बतलाया—मैं गान्धी जी नही, जैन साधु हूँ और दया करना मेरा भी कर्त्तव्य है।

अनेक लोग सामने से निकलते है, परन्तु कौन किसकी तरफ देखता है ? कोई आँख उठाकर भी नही देखता। मगर जिस व्यक्ति के दर्शन के लिए लाखो तरसते है और दूर-दूर से चल कर आते है, उसमे कोई महत्ता अवश्य है। वह महत्ता विलासमय जीवन व्यतीत करने मे नही आती, बल्कि सादगी, त्याग, परोपकार और सेवाभाव से आती है।

इस प्रसग मे एक बात ध्यान देने योग्य है। एक देश की राजनीतिक आजादी प्राप्त करने के लिए जब इतना त्याग करना आवश्यक है तो अनादिकालीन कर्मबन्धन से मुक्ति पाने के लिए और आध्यात्मिक स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए कितने त्याग की आवश्यकता न होगी ?

इस शरीर को चाहे जितना सहेजो, सजाओ, पुष्ट करो, आखिर तो इसका अन्त अवश्यम्भावी है। यह जानते हुए भी जो नाशवान् शरीर के लिए इतना समय और धन खर्च करते है और आत्मा के कल्याण की ओर तनिक भी ध्यान नही देते, उन्हे क्या कहा जाय ? शाश्वत वस्तु की उतनी उपेक्षा विवेकवान् नही करते।

जो लोग आत्मतत्त्व मे विमुख हैं, वही तडकभडक मे पडते है। उनकी तडकभडक न केवल उन्हीं के लिए वरन् औरो के लिए

भी हानिकर सिद्ध होती है। ऐसे लोग जब बाजार मे निकलते है तो दूसरो की दृष्टि मे विकार उत्पन्न करते हैं। उनका ढग काम-विकार बढाने वाला होता है।

आशय यह है कि हमारा जीवन सादा होना चाहिए। आज अधिकाश बहिनें अकेली उपाश्रय या बाजार मे जाने मे डरती हैं। परन्तु क्या कभी सोचा है कि इसका क्या कारण है? मेरे खयाल से इस परिस्थिति को उत्पन्न करने मे बहुत बडा हाथ बहिनो का ही है। उन्होने अपनी स्वतन्त्रता के साधन गँवा दिये और सादे रहन-सहन का त्याग कर दिया है। वहिने इतनी अधिक टीपटाप करती है कि वलात् दूसरो का ध्यान उनकी ओर आकर्षित होता है। इस शृगार और बनाव का दूसरा उद्देश्य ही क्या है? इस प्रकार बहिनें अपनी मूर्खता के कारण स्वय ही अपने लिए काँटे बिखेरती हैं। दूसरो पर दोषारोप करने का उन्हे क्या अधिकार है?

सादा जीवन वाली, सदाचारिणी, पतिव्रता साध्वियाँ कही भी जा सकती है। अगर उनके रहन-सहन एव वेषभूषा मे सादगी और सयम है तो उनकी ओर आँख उठा कर देखने की भी हिम्मत नही हो सकती। कदाचित् कोई विषयकीट देखने की हिम्मत भी करे तो वह देवी उसे भी सही राह पर ला सकती है। प्रकाश दे सकती है। इतिहास साक्षी है कि अतीत मे अनेक स्त्रियो ने पुरुषो को प्रकाश दिखलाया है। योग को तिलाजलि देकर भोग की कीचड मे फसने को उद्यत हुए रथनेमि को साध्वी राजीमती ने प्रकाश दिया था, यह बात जैनशास्त्रो मे प्रसिद्ध है। सतीधर्म ने उसे जागृत कर दिया। योगी अपने पथ से विचलित हुआ और सती उसे सन्मार्ग पर ले आई।

इसी प्रकार एक नागला नाम की पतिव्रता स्त्री का पति साधु बन गया था। नागला ने अपने मन पर पूरा काबू रक्खा और सोचा—पति के दीक्षित होने से मुझे सहज ही ब्रह्मचर्य पालने का अवसर मिला। भोगकाल मे नौ लाख सज्ञी और असख्यात असज्ञी जीवो की होने वाली हिंसा बच गई।

सज्जनो! उसी नागला का पति जो साधु बना था, वह पिछले मोहकर्म के उदय से नागला से प्रेम-पोषण करने के लिए जब फिर लौट कर घर आया तो सती नागला ने उसे समझा कर साधुव्रत मे दृढ कर दिया।

ऐसी-ऐसी सन्नारियाँ इस देश मे अनेक हो गई है। सतियो और पतिव्रताओ का यह देश आज किस ओर जा रहा है? बेहद बढती हुई विलासवृत्ति इस देश की नारियो को कौन जाने कहाँ ले जाएगी!

इस दुर्दशा का मुख्य कारण आत्मविकास की ओर ध्यान न देना है। आज कदाचित् कोई भाग्यवान् दीक्षा लेने को तैयार होता है तो उसकी सराहना करना और सहायक होना तो अति दूर रहा, लोग उल्टे उसमे बाधक बनते हैं। उसे बहकाने मे, डराने मे भी कसर नही रखते। सज्जनो! आपको साधु चाहिए। साधुओ के बिना साधुमार्गियो का काम कैसे चल सकता है? आप स्वय कहते हैं कि साधुओ की परम्परा के बिना हमारे धर्म की परम्परा नही चल सकती। स्थानकवासियो को एकमात्र साधु ही सहारा है। इतना मानते हुए भी और साधु जीवन को उच्च, पवित्र और स्पृहणीय समझते हुए भी परीक्षा के समय अनुत्तीर्ण हो जाते हो। अगर आपका लड़का दीक्षा लेने को तैयार हो जाय तो क्या आप उसके

वैराग्य की सराहना करके दीक्षा लेने की अनुमति देंगे ? नही, आप सभी सभव उपाय करके उसे दीक्षा से विरत करना चाहेगे । यही नही, जिस सन्त के सन्निकट वह दीक्षित होना चाहता होगा, उसे आप शत्रुवत् समझने लगेंगे । शासन का सहारा लेकर भी दीक्षा को रोकना चाहेगे ।

आज जब आप लोगो की ऐसी मनोवृत्ति है तो विचार करना चाहिए कि जब न आप साधु बनते है, न आत्मीय जनो को साधु बनने देना चाहते हैं, फिर भी साधुओ का होना चाहते है तो क्या साधु स्वर्ग से पार्सल बन कर आ जाएँगे ? औरो की तो जाने दीजिए, कितनेक भक्त तो उनके नौकर को भी यदि वैराग्य आ जाय तो उसे अन्तराय किये बिना नही रहते ।

जिनके पाँच-पाँच पुत्र है, वे एक पुत्र जिनशासन की सेवा के लिए और अपने परमकल्याण के लिए समर्पित कर दें तो क्या हुआ जाता है ? मैं अपने लिए नही चाहता, सघ के लिए समर्पित करने को कह रहा हूँ ।

प्रथम तो कोई साधु बनने को तैयार नही होता, कदाचित् क्षयोपशम की विशिष्टता हुई और कोई तैयार हो गया तो दूसरे बाधक बन जाते है । मैं जब दीक्षा लेने को उद्यत हुआ तो कइयो ने मुझे बहकाया और कहा—तुम साधु मत बनो !

धर्म से हटाने को बहुत तैयार हो जाते हैं, किन्तु इस शुभ कार्य की प्रेरणा देने वाला तो कोई भाग्यवान् होता है ।

मुझे गुरु जी ने एक मत्र सिखा दिया था कि किसी को उत्तर न देना । इस मत्र को कहते हैं मौन ! कहावत है 'एक मौन सौ को हरावे' । मुझे लोग ऐसा कह कर बहकाते कि तुम साधु बन कर जो

धर्म करोगे, उसे जिनकी रोटी खाओगे, कपडा पहनोगे, वे ले जाएगे; तुम खाली के खाली रह जाओगे। किन्तु मेरे मौन के आगे सब हार जाते थे। सज्जनो! आटे मे मौन डालने से बूढे भी आराम से रोटी खा सकते हैं। पाप के काम मे मौन रखने से धर्म की वृद्धि होती है।

गुरु महाराज का मेरे हृदय पर गहरा प्रभाव पडा। उन्होने स्वय भी तीव्र और उग्र वैराग्य से दीक्षा अगीकार की थी। उन्हे राजा ने समझाने का प्रयत्न किया पर वह उनके अटल निश्चय को वदलने मे समर्थ न हो सका। वे सगाई को छोड कर दीक्षित हुए थे। वडे ही चरित्रशील और भद्र थे। स्त्रीपरिचय से वहुत दूर रहते थे। दर्शनार्थ आने वाली वाइयो को झट मागलिक सुना दिया करते थे और दुनियादारी की झझटो से सदैव वचे रहते थे। आत्मसाधना मे ही सदा मग्न रहते थे।

स्त्रियो का सम्पर्क साधक के लिए कदापि हितकर नही होता। व्याख्यान के समय अथवा शास्त्रवाचना के समय वे लाभ लेना चाहे तो भले ले और लेना भी चाहिए, परन्तु दूसरे समय में साधु के पास आकर वैठने की आवश्यकता नही है। सेठ दुकान चले जाएँ और वाइयाँ खा पीकर वाते करने के लिए साधु के पास जा वैठे, यह ठीक नही। अधिक सगति का परिणाम अवाछनीय होता है।

तो धर्म को दिपाने के लिए त्याग-वैराग्य चाहिए। आपको यह नही सोचना चाहिए कि हम सेठ है, कैसे दीक्षा लेवे? प्राचीन काल मे चक्रवर्त्तियो ने भी दीक्षा ली है। सयममय जीवन यापन करने मे ही विवेक की और मनुष्य-जन्म की सार्थकता है। अभी

आप जल्दी कह देते हो कि—'पजावथी साधु मोकलो ।' लेकिन क्या पजाव मे श्रोता नही है ? क्या पजाबी ही साधु बनने के योग्य हैं ? आपको अपने प्रान्त की आवश्यकता स्वय पूर्ण करनी चाहिए। बाहर की पूंजी से कब तक काम चलाओगे ? बाहर से अनाज मँगा-मँगा कर भारत करजदार होता जा रहा है। अमेरिका, कनाडा या आस्ट्रेलिया का गेहूँ मँगाना क्या भारत के लिए गौरव की बात है ? अपने देश की वस्तु ही अधिक अनुकूल होती है। परिश्रम कोई और करे तथा फल कोई और भोगे, यह स्थिति इस युग मे लम्बे समय तक नहीं चल सकती। इस वर्ष तो उपाचार्य श्री और कान्फरेंस की प्रेरणा से आप लोग मुझे इधर ले आए हो, पर इस तरह सदैव काम नही चलेगा। आपको यही पर सौराष्ट्र मे साधु तैयार करने चाहिएँ। अगर आपके घर का कोई व्यक्ति साधु बनता है तो आपको प्रसन्नता होनी चाहिए कि आपका कुल पवित्र हो गया। स्वय भी इस पवित्र जीवन की आकाक्षा करनी चाहिए। सच्चा श्रावक वही है जो प्रति-दिन साधु बनने की भावना करता है। श्रावक के तीन मनोरथो मे यह भी एक मनोरथ है। कहा है—

कब आएगा वह दिन कि बनू साधु विहारी ?

श्रावक देशत्यागी होता है और पूर्ण त्याग की अभिलाषा रखता है। जब पूर्ण त्याग का अवसर मिलता है तो अपने भाग्य को धन्य समझता है। इसी प्रकार अगर उसका कोई आत्मीय जन आत्मकल्याण के लिए उद्यत होता है तो भी उसे प्रसन्नता होती है। जिसके अन्त करण मे सच्ची धर्मभावना है, वह किसी की धर्मसाधना मे बाधक नही बन सकता।

धर्म मात्र बातें करने से नही होता। ऐसे-ऐसे महापुरुष हुए

है, जिन्होने धर्म के लिए प्राणो को भी तुच्छ समझकर त्याग दिया। धर्मसिंह जी महाराज के सम्प्रदाय के एक साधु ने अति भयकर रोग के कारण धारा नगरी मे, जहाँ प्रसिद्ध साहित्य-प्रेमी राजा भोज हुआ है, जीवनपर्यन्त का सथारा किया, अर्थात् जीवनपर्यन्त खाने पीने का तथा शरीर के ममत्व का परित्याग कर दिया। सथारा करने के पश्चात् धीरे-धीरे उसका रोग दूर हो गया। भूख जागी और बढी। साधु ने बहुत सहन की भूख की पीडा, परन्तु अन्त मे कहा—अब मुझसे नही रहा जाता।

द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि देख कर सथारा किया जाता है। 'वोसिरामि वोसिरामि' कह देना साधारण बात नही है। उसमे बहुत बडी जिम्मेवारी है। यावज्जीवन अन्न का त्याग करके कोई डिग जाय और चिल्लाने लगे तो धर्म की निन्दा होती है।

हाँ, तो धर्मसिंह जी महाराज ने उस मुनि को बहुत समझाया कि त्याग से विचलित होना कायरता है, परन्तु वह न माना। तब उन्होने कहा—अच्छा, उठो, आसन खाली करो।

दूसरे साधुओ को उन्होने आदेश दिया—'इसे सभालना और धर्म की अवहेलना न होने देना।'

यह कह कर धर्मसिंहजी महाराज ने उस साधु का स्थान ग्रहण कर लिया। धर्म की प्रभावना के लिए स्वय सथारा ग्रहण कर लिया।

इसे कहते है धर्म के लिए प्राणो का उत्सर्ग। महान् पुरुष के लिए धर्म जीवन से बहुत अधिक मूल्यवान् होता है। इस प्रकार प्राणो का उत्सर्ग करके धर्म की रक्षा की जाती है।

धर्म की रक्षा और प्रभावना के लिए साधुओ ने ही कष्ट सहन किये हो और श्रावको ने कुछ न किया हो, ऐसी बात नही है। अरणक और कामदेव के समान श्रावक भी हो गये है, जिन्होने प्राणो का मोह त्याग कर भी अपने धर्म पर दृढ आस्था रक्खी। ऐसे धर्म-वीर साधुओ और श्रावको की बदौलत ही धर्म की रक्षा और प्रभावना हुई और वह सूर्य की भाँति चमका है। मै चाहता हू कि त्याग और निस्पृहभाव की वह परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे, धर्म का कल्पवृक्ष हराभरा बना रहे और जगत् के सतप्त जीवो को शान्ति प्रदान करता रहे। धर्म के सिवाय जगत् के लिए अन्य कोई आधार नही है। परन्तु उसकी रक्षा का भार उन पर है जो धर्म की महिमा को जानते हैं। धर्म की रक्षा करना मलाई का लड्डू खाना नही है, लोहे के चने चबाना है।

धर्म की प्रतिपालना और रक्षा के लिए उदात्त और पवित्र भावना अपेक्षित है। भावना की उत्पत्ति मे अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल अपेक्षित होते है।

क्षेत्रशुद्धि के सम्बन्ध मे कहा जा चुका है। उसका अर्थ यही है कि धर्मसाधना का स्थान मल-मूत्र आदि अशुचि पदार्थो से अपावन नही होना चाहिए। साथ ही ऐसा होना चाहिए, जहाँ चित्त मे विक्षेप उत्पन्न करने के कारणो का अभाव हो। साधना के लिए चिन्तक एकान्त पसन्द करते है। अगर स्थान अनुकूल होता है तो वर्ष की सफलता मास मे मिल जाती है। मनुष्य के चित्त पर वातावरण का गहरा प्रभाव पडता है।

भावशुद्धि मे चित्त की पवित्रता मुख्य है। जब भाई या बहिने

धर्मस्थानक मे प्रवेश करे तो अन्त करण को सब प्रकार के विषय-विकार से पृथक् करके पवित्रता के साथ प्रवेश करे। भावना की शुद्धि के लिए चटक-मटक से दूर रहना चाहिए। धर्मस्थान आत्मिक ज्योति जगाने का पावन स्थल है, कोई सिनेमा हॉल अथवा नाटकघर नही है। प्रदर्शिनी की जगह भी नही है। धर्मस्थानक के लिए आरम्भ बढाना अच्छा नही। वहाँ फोटो, झाड-फानूस आदि नही होने चाहिएँ। धूमधाम नही चाहिए। आप घर से आत्मसाधना करने के लिए स्थानक मे आते हैं, यह सोच कर कि वहाँ शान्ति होगी, गडबड न होगी, परन्तु वहाँ भी अगर वैसी ही अशान्ति हो तो धर्म स्थानक की क्या विशेषता रही ! जहाँ जोरो से गाना गाया जाता है, घटा बजाया जाता है, बाजो की ध्वनि से वातावरण गूँजता रहता है और कोलाहल मचा रहता है, वहाँ शान्ति कहाँ ? एकाग्रता कहाँ ?

पजाब के एक गाव मे हम प्रतिक्रमण करके चुके ही थे कि जोर जोर से घण्टा बजने की कर्कश ध्वनि कर्णगोचर हुई। मैंने पूछा—यह क्या है ? तब एक भाई ने बतलाया—ठाकुर जी को शयन करा रहे है।

मैंने सोचा—ठाकुर जी क्या कोई बच्चे हैं, जिन्हे सुलाने की आवश्यकता होती है ? फिर सोने के समय तो शान्ति चाहिए। घटा बजा कर सुलाने की बात कुछ समझ मे नही आई। नीद न उडे तो घटा बजा कर जगाने की बात समझ मे आ सकती है, मगर सुलाने के लिए घण्टा बजाना ठाकुर जी को ही मुबारिक हो।

ठाकुर जी का अर्थ अगर भगवान् है तो उन्हे निद्रा नही आ

सकती । निद्रा दर्शनावरणीय कर्म के उदय का फल है और भगवान् दर्शनावरणीय कर्म का क्षय कर चुके है। जो भगवान् इतना भोला है कि न स्वय सो सकता है और जाग सकता है, वह तुम्हारा क्या भला करेगा ? ऐसे भगवान् से तो उसके भक्त ही अधिक होशियार ठहरे ।

अभिप्राय यह है कि धर्मसाधना का स्थान ऐसा होना चाहिए जहाँ चित्त मे चचलता पैदा करने का कोई कारण न हो, किसी प्रकार का कोलाहल आदि न हो और न विलासवर्धक सामग्री हो ।

कालशुद्धि भी अपेक्षित है। सामायिक आदि का समय नियत होना चाहिए। मिश्री को जब मुख मे डालो तभी मिठास देती है। इसी प्रकार सामायिक भी किसी भी समय मे की गई लाभदायक ही होती है। परन्तु नियमितता की दृष्टि से ज्ञानियो ने उसका समय बाध दिया है। प्रात काल का समय इसके लिए सर्वोत्तम है। उस समय चित्त शान्त होता है। प्रात कालीन चिन्तन से अवधिज्ञान, जातिस्मरण आदि विशिष्ट ज्ञान की भी प्राप्ति हो सकती है। पर जो आलसी साढे आठ-बजे तक सोया पडा रहता है वह क्या आत्मचिन्तन करेगा !

कई लोग दुकानदारी का धधा करते-करते जब थक जाते हैं तब सामायिक करते हैं। वे थकावट दूर करने को धर्मस्थान मे आते हैं। इससे प्रतीत होता है कि सामायिक के प्रति जैसा आदरपूर्ण दृष्टिकोण होना चाहिए, वैसा नही है। दस हजार की जैन जनसख्या वाले आपके राजकोट नगर मे एक हजार भी नियमित सामायिक करने वाले शायद ही हो। अलबत्ता पर्युषण के दिनो मे प्राय आप सब आते हैं परन्तु मनोविनोद और हसी-दिल्लगी को छोड़कर गभीर

एव शान्त भाव से साधना करने वाले उनसे विरले होते हैं। परन्तु चेतावनी दे देना अनुचित्त न होगा कि मेरी उपस्थिति मे इस प्रकार की हरकते नही सहन की जा सकेंगी। यह धर्मस्थान है। यहाँ ठीक तरह इन्द्रियो पर और मन पर सयम रखना होगा।

धर्म के लिए आठ दिन हैं और शेष दिनो मे आप लोग दुनिया के धधो मे लगे रहते हैं। इन आठ दिनो मे भी अगर गभीरता के साथ धर्माराधना नहीं की तो फिर कब करोगे ? कैसे जीवन को सफल करोगे ?

धर्मसाधना के विना सभी साधनाए निरर्थक हैं। धर्मसाधना मे सामायिक का प्रधान स्थान है,परन्तु भावना उत्तम और प्रशस्त होनी चाहिए। सामायिक के समय मे वैराग्यवर्द्धक, भक्तिरस से परिपूर्ण या आध्यात्मिक साहित्य का वाचन करना योग्य है। जिनमे स्त्रीकथा आदि विकथाए हो ऐसी पुस्तको को पढना कभी भी हितकर नही है, विशेषत सामायिक के समय तो गदा साहित्य पढना ही नही चाहिए। गदा साहित्य दिमाग मे विषाक्त कीटाणु उत्पन्न कर देता है। उसका जीवन पर वडा वुरा प्रभाव पडता है।

तात्पर्य यह है कि आपको अपना जीवन धर्मसाधना मे व्यतीत करना चाहिए। भगवान् ने जीवन की सफलता का रहस्य धर्मसाधना मे ही वतलाया है। जो आत्मिक गुणो का विकास करना चाहता है, उसे मन को केन्द्रित करके प्रभु के गुणो का गान और स्मरण करना चाहिए।

प्रभु का गुणगान करते समय चित्त एकदम शान्त और प्रभुमय हो जाना चाहिए। उस समय किसी भी प्रकार की लौकिक

कामना या विषयविकृति नही होनी चाहिए। जव चित्तपूर्णत स्वस्थ और निर्विकार होता है, तभी उसमे धर्म का अकुर उगता है।

इस प्रकार विचार कर आप अपने चित्त को शान्त करे, स्वस्थ करे, पवित्र करे, एकाग्र करे, प्रभुमय करे, तन्मय करें, चिन्मय करे और सव प्रकार की वासनाओ से रहित करें। ऐसा करने से आपका वेडा पार हो जाएगा। आप ससार-सागर के उस तीर पर पहुँच जाएगे जहाँ से लौट कर फिर जन्म-मरण के चक्र मे नही पडना पडता।

राजकोट
२२-८-५४
